जन्म–मरण के दुःखों से छुटकारे का एकमात्र उपाय

स्वानुभव

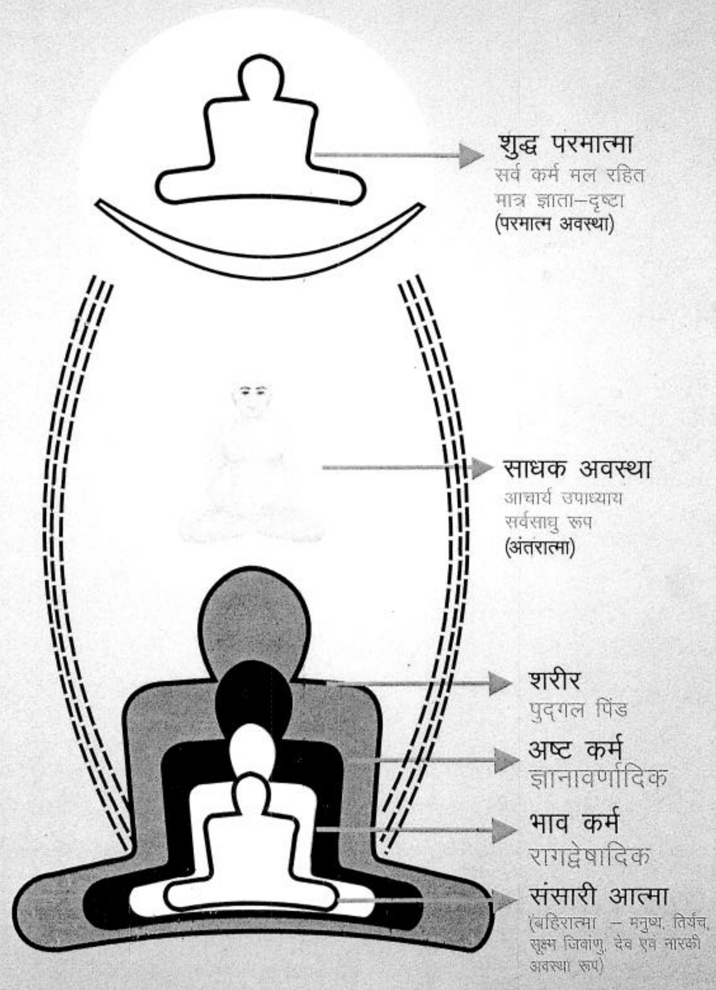

लेखक व संकलनकर्ता : बाबू लाल जैन

जन्म–मरण के दुःखों से छुटकारे का एकमात्र उपाय

स्वानुभव

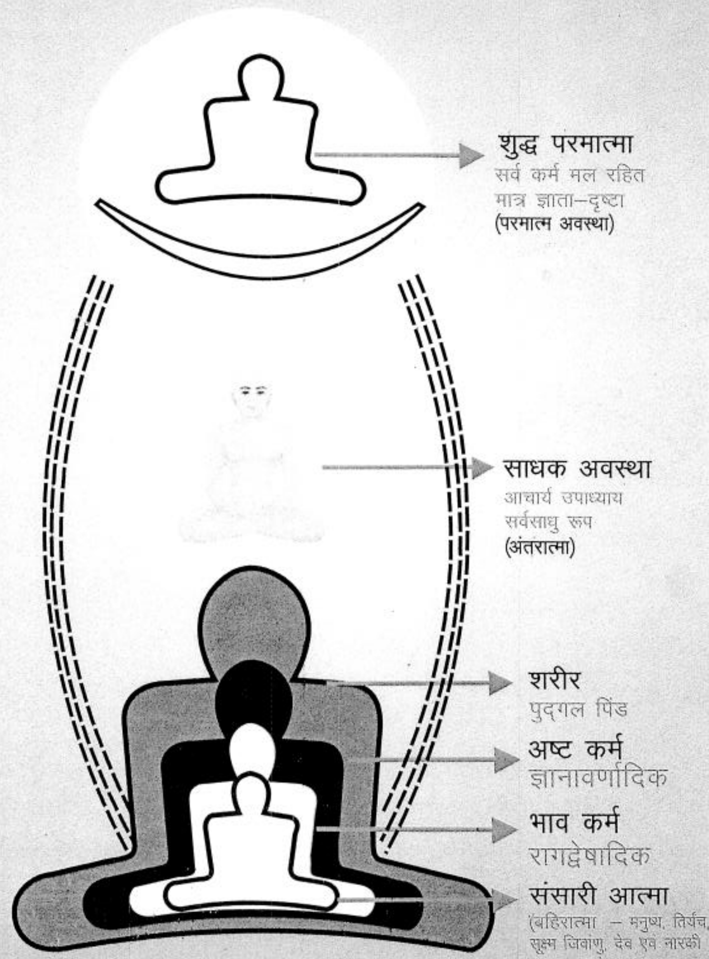

लेखक व संकलनकर्ता : बाबू लाल जैन

आत्मानुभव - एक दृष्टि ....

आत्मानुभव का स्वरूप क्या है? और वह कौन से गुणस्थान में होता है? इन दो बातों का खुलासा करना जरूरी है क्योंकि इस विषय में काफी मतभेद है।

परम विद्वान प० टोडरमल जी ने 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में इस भ्रम का निवारण किया है। पण्डित जी ने समयसार की गाथा व अर्थ को लक्ष्य करके आत्मानुभव करने की पद्धति भी बताई है, जो कि अत्यन्त उपयोगी है, जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

वहाँ प्रथम ही स्वानुभव का स्वरूप जानने के निमित्त लिखते हैं:- जीव पदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है। वहाँ स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। तथा जिसकाल किसी जीव के दर्शनमोह के उपशम-क्षय-क्षयोपशम से स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थ श्रद्धान हो तब जीव के सम्यक्त्व होता है; इसलिये स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है।

तथा यदि स्व-पर का श्रद्धान नहीं है और जिनमत में कहे जो देव, गुरू, धर्म उन्हीं को मानता है, व सप्त तत्त्वों को मानता है; अन्यमत में कहे देवादि व तत्त्वादि को नहीं मानता है, तो इस प्रकार केवल व्यवहारसम्यक्त्व से सम्यक्त्वी नाम नहीं पाता, इसलिये स्व-पर भेद विज्ञान सहित जो तत्त्वार्थश्रद्धान हो उसी को सम्यक्त्व जानना।

तथा ऐसा सम्यक्त्वी होने पर जो ज्ञान पंचेन्द्रिय व छट्ठे मनके द्वारा क्षयोपशमरूप मिथ्यात्वदशा में कुमति-कुश्रुतरूप हो रहा था वही ज्ञान अब मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान हुआ। सम्यक्त्वी जितना कुछ जाने वह जानना सर्व सम्यक्ज्ञानरूप है।

यदि कदाचित् घट-पटादिक पदार्थों को अयथार्थ भी जाने तो वह आवरणजनित औदयिक अज्ञानभाव है। जो क्षयोपशमरूप प्रकट ज्ञान है वह तो सर्व सम्यग्ज्ञान ही है, क्योंकि जानने में विपरीतरूप पदार्थों को नहीं साधता। सो यह सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान का अंश है, जैसे थोड़ा-सा मेघटल विलय होने पर कुछ प्रकाश प्रगट होता है वह सर्व प्रकाश का अंश है।

जो ज्ञान मति-श्रुतरूप हो प्रवर्त्तता है वही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है, सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा तो जाति एक है।

तथा इस सम्यक्त्वी के परिणाम सविकल्प तथा निर्विकल्परूप होकर दो प्रकार प्रवर्त्तते हैं। वहाँ जो परिणाम विषय-कषायादिरूप व पूजा, दान, शास्त्राभ्यासादिक रूप प्रवर्त्तता है उसे सविकल्प रूप जानना।

यहाँ प्रश्न :- **शुभाशुभरूप परिणमित होते हुए सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे पाया जाय ?**

समाधान : जैसे कोई गुमाशता सेठ के कार्य में प्रवर्त्तता है, उस कार्य को अपना भी कहता है, हर्ष-विषाद को भी प्राप्त करता है, उस कार्य में प्रवर्त्तते हुए अपनी और सेठ की जुदाई का विचार नहीं करता, परन्तु अंतरंग श्रद्धान ऐसा है कि यह मेरा कार्य नहीं है। ऐसा कार्य करता गुमाश्ता साहूकार है। यदि यह सेठ के धन को चुराकर अपना माने तो गुमाश्ता चोर होय। उसी प्रकार कर्मोदय जनित शुभाशुभरूप कार्य को करता हुआ तद्रूप परिणमित हो, तथापि अंतरंग में ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नहीं है। यदि शरीराश्रित व्रत-संयम को भी अपना माने तो मिथ्यादृष्टि होय। सो ऐसे सविकल्प परिणाम होते हैं।

अब सविकल्प ही के द्वारा निर्विकल्प परिणाम होने का विधानकहते है:-

वही सम्यक्त्वी कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है, वहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्वपर का करे, नोकर्म-द्रव्यकर्म रहित केवल

चैतन्य-चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने, पश्चात परका भी विचार छूट जाय, केवल स्वात्मविचार ही रहता है, वहाँ अनेक निजस्वरूप में अहंबुद्धि धारता है। चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्द तरंग उठती है, रोमांच हो आता है, तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, वहाँ सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्त्तते हैं, दर्शन-ज्ञानादिक का व नय-प्रमाणदिक का भी विचार विलय हो जाता हैं।

चैतन्यस्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापकरूप होकर इस प्रकार प्रवर्त्तता है जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है। बड़े नयचक्र ग्रन्थ में ऐसा ही कहा है :-

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराइणसमये पच्चकम्खोअणुहवो जह्मा।।266।।

अर्थ :- तत्त्व के अवलोकन (अन्वेषण) का जो काल उसमें समय अर्थात् शुद्धात्मा, युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधन समय जो अनुभवकाल उसमें नय-प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव है।

जैसे-रत्न को खरीदने में अनेक विकल्प करते हैं, जब प्रत्यक्ष उसे पहिनते हैं, तब विकल्प नहीं है-पहिनने का सुख ही है। इस प्रकार सविकल्प के द्वारा निर्विकल्प अनुभव होता है।

ऐसा वर्णन समयसार की टीका आत्मख्याति में है तथा आत्मावलोकनादि में है :-

तथा जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों व छठवें मन के द्वारा प्रवर्त्तता था, वह ज्ञान सब ओर से सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूप सन्मुख हुआ।

क्योंकि वह ज्ञान क्षयोपशमरूप है इसलिये एक काल में एक ज्ञेयही को जानता है, वह ज्ञान स्वरूप जानने को प्रवर्त्तित हुआ तब अन्य का जानना सहज ही रह गया। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादिक विकार हों तो भी स्वरूप ध्यानी को कुछ खबर नहीं- इस प्रकार मतिज्ञान भी स्वरूप सन्मुख हुआ। तथा नयादिक के विचार मिटने पर श्रुतज्ञान भी स्वरूप सन्मुख हुआ।

यहाँ प्रश्न : **ऐसा अनुभव कौन से गुणस्थान में होता है?** उसका समाधान : **चौथे से ही होता है, परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुण–स्थानों में शीघ्र–शीघ्र होता है।**

इस बात की पुष्टि धवला पुस्तक 6 पेज 74 में की गई है –

1. दोनों ही ध्यानों में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है (धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान)

2. यह सत् सत्य है कि इन दोनों प्रकार के स्वरूपों की अपेक्षा दोनों ही ध्यान में कोई भेद नहीं है। किन्तु इतनी विशेषता है कि धर्म ध्यान एक वस्तु में स्तोक काल तक रहता है।

3. असयंत सम्यग्दृष्टि–सयमा सयमं–प्रमत सयंत– – – – – – जीवों के धर्म ध्यान की प्रवृति होती है। ऐसा जिन देव का उपदेश है।

प्रवचन सार गाथा 184 अमृतचंद्रस्वामी

जो एवं जाणिता भादि परं अप्पग्गं विसुद्धप्पा।
सागाराणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंदिं।।

जो कोई श्रावक या मुनि परम आत्मा को विशुद्ध मन से ध्याता है वह मोह की गांठ को नाश करता है।

।। श्री वीतरागाय नमः।।

卐 स्वानुभव 卐

"जिन देखा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ"

आज विश्व में सर्वत्र पीड़ा है, अशान्ति है, हाहाकार है। प्रत्येक जीव सुख चाहता है और उसका प्रत्येक प्रयत्न सुख-प्राप्ति के लिए ही होता है, परन्तु दुःख के सिवाय उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यह जीव जिसे सुख मान कर उसमें अटक जाता है वह वास्तविक सुख नहीं क्योंकि जो अपने साथ अथवा अपने पीछे-पीछे दुःख को ले आये उसे सुख नहीं कहा जा सकता। सच्चा सुख तो आपनी आत्मा को अपने-रूप देखना-जानना और उस रूप रह जाना ही है। परन्तु ज्ञानस्वरूप उस आत्मा को न पहचान कर यह जीव अज्ञानी हुआ इस संसार रूपी दुःखसागर में परिभ्रमण कर रहा है।

जीव की पीड़ा व दुःख के कारण हैं - राग - द्वेष अथवा क्रोध - मान - माया - लोभ। यह जीव दुःखी तो अपने राग-द्वेष की वजह से है, परन्तु मान रहा है कि दूसरे व्यक्ति/पदार्थ की वजह से या धन, सम्पत्ति आदि के अभाव से दुखी हूँ। इसलिये राग-द्वेष को मिटाने का तो उपाय नहीं करता, उल्टे उन चीजों को प्राप्त करने की ही चेष्टा करता है, जिनके प्राप्त होने पर भी दुःख दूर नहीं होता। राग-द्वेष दुःख के कारण हैं, और राग-द्वेष का करण है इस जीव का अपने चैतन्य - स्वभाव को न जानना-जीव की अपने स्वरूप के बारे में अज्ञानता जिससे शरीर आदि में अपनापना मानना होता है। इस प्रकार की पीड़ा व दुख के मूल में इसकी अज्ञानता ही है और वह अज्ञानता इसके जीवन के प्रत्येक पहलू में

प्रकट हो रही है। सर्वप्रथम उस अज्ञानता के विविध आयामों का ही विचार करते हैं :

(1) **सबसे पहली और मौलिक भूल यही है** कि यद्यपि यह जीव अनन्त गुण वाला चैतन्य तत्त्व, ज्ञान शरीरी है तथापि इस मूर्तिक जड़ शरीर को, पुद्‌गल को इसने अपना होना – अपना अस्तित्व – मान रखा है। वह चैतन्य तत्व अमूर्तिक है, अत: इन चर्म – चक्षुओं से नहीं दीख सकता, वह मात्र स्वसंवेदनगम्य है, अपने अनुभव से ही जाना जा सकता है। उसे तो इस अज्ञानी ने पहचाना नहीं और आँख के माध्यम से जब बाहर झाँका तो इसे यह स्थूल शरीर दिखाई दिया। अपने आपको न पहचानने की भूल के कारण इसने इस शरीर को ही अपने – रूप मान लिया और इस मान्यता के कारण संसार की बेल बढ़ती ही चली गई।

आत्मा व शरीर में भेद तो स्वयं सिद्ध है वह (भेद) कुछ इसे पैदा तो करना नहीं है। मात्र उसका ज्ञान करना है और वह भेद–ज्ञान करके उस एक अकेले चैतन्य में सर्वस्व स्थापित करना है। जिस रूप यह नहीं है, जब उस रूप स्वयं की अनुभूति कर सकता है, तो उस रूप क्यों नहीं अनुभूति कर सकता जिस रूप यह वास्तव में है। अनुभूति करने वाला तो यह स्वयं ही है।

जैसी अहंबुद्धि इसकी शरीर में है वैसी ही चेतना में होनी चाहिए। और जैसी परबुद्धि पहने हुए वस्त्र आदि में हैं वैसी इस शरीर में होनी चाहिए।

शरीर के स्तर पर तो इसे अनुभूति है – शरीर में अपनी सत्ता की अनुभूति होती है कि 'यही मैं हूं।' शरीर के बजाय यह मैंपना चेतना में से उठना चाहिये क्योंकि यह वास्तव में चैतन्य ही तो है, शरीर तो जड़ है। शरीर के स्तर पर इसे भेदविज्ञान भी है, अपने शरीर, घर, धन, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि को

ही अपना मानता है, किसी दूसरे के शरीरादिक को नहीं। यही भेदविज्ञान इसे चेतना के स्तर पर होना चाहिए कि अनंतगुण वाला यह चेतन पदार्थ तो मैं हूं और यह शरीर एवं बाकी सारे पदार्थ 'पर' हैं - अन्य हैं, दूसरे हैं।

शरीर के स्तर पर जिस - जिस पदार्थ का संयोग होता है उन सब में यह अपनापना मानता है। जो शरीर इसे मिला उसी रूप-स्त्री-पुरुष-नपुसंक रूप या मनुष्य - देव - नारकी - पशु रूप - अपने को मानता है अथवा, स्वयं को धनिक - निर्धन, रोगी-निरोगी, सुन्दर - कुरूप, दानी - याचक, विद्वान - मूर्ख, गृहस्थ - मुनि आदि मानता है। इसके विपरीत, यदि अपने स्वभाव को जानता है कि मैं तो चैतन्य हूँ और ये शरीरादिक अथवा धन, स्वास्थ्य, सौंदर्य आदि तो कर्म के उदय - जनित संयोग हैं, तो फिर इसके इनमें अहम्पना नहीं होता, इनके होने या न होने से यह सुखी - दुःखी नहीं होता। परन्तु इसकी तो पर्याय में ही अहम् - बुद्धि हो रही है, अपने चैतन्य ज्ञान - स्वभाव में अपनापना इसके नहीं आया।

(2) जीव की दूसरी अज्ञानता इस मिथ्या मान्यता पर आधारित है कि सुख - दुख 'पर' में से आता है और 'पर' ही मुझे कषाय कराता है। वास्तविक स्थिति यह है कि पर - पदार्थ कभी भी सुख - दुःख का मूल कारण नहीं होता। जीव के सुख दुख का मूल कारण तो कषायों का, इच्छाओं - विकल्पों का अभाव या सद्भाव ही है। **अधिक इच्छाओं वाला प्राणी दुःखी और कम इच्छाओं वाला अपेक्षाकृत सुखी देखा जाता है।**

एक इच्छा की पूर्ति होने पर जो सुख का आभास - सा होता है वह सुख वास्तव में उस पर पदार्थ में से नहीं आता जो इच्छा की पूर्ति होने पर मिला है वरन् तत्सम्बन्धी इच्छा का उस समय जो अभाव हुआ है उस अभाव से वह सुख आया है। और उस समय भी एक इच्छा का ही तो आभाव हुआ है, अन्य अनन्तों इच्छायें

तो पंक्ति बनाये खड़ी ही हैं - अतः यह जीव निरन्तर दुःखी ही रहता है। वस्तुस्थिति तो यही है पर अज्ञानी उस सुख को इच्छा के अभावजनित न मान कर ऐसी मान्यता करता है कि परपदार्थ में से यह सुख आया है, और अपनी इस झूठी मान्यता के कारण इन परपदार्थों को - शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, मकान, दुकान आदि को-बढ़ाने की सतत धुन में लगा रहता है।

इस प्रकार लगातार इच्छा करने का प्रयोजन इसके बना रहता है। मायाचार आदि के द्वारा भी इच्छाओं की पूर्ति करने का लोभ इसे निरन्तर बना रहता है। पूर्ति न हो पाने पर क्रोध कषाय व पूर्ति हो जाने पर मान कषाय करता है। इस प्रकार कषाय करने का प्रयोजन भी अज्ञानी के बना रहता है।

जीव स्वयं कषायरूप परिणमन करता है और मानता यह है कि पर ने, दूसरे ने मुझे कषाय कराई। परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है, कषाय कोई दूसरा नहीं कराता। **कषाय होने की सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी है।** दूसरे का अवलंबन लेकर हम ही- कषाय रूप परिणमन करते हैं। पर का अवलम्बन भी हमने ही लिया और कषायरूप परिणमन भी हमने ही किया, चूँकि पर का अवलम्बन लिया इसलिए उपचार से ऐसा कहा जाता है कि उसने क्रोध करा दिया, इत्यादि। परन्तु ऐसा कहना मात्र उपचार है और उपचार तो वस्तुतः झूठा ही होता है।

वस्तुस्वरूप को न जान कर अज्ञानी ऐसा ही मानता है कि दूसरे ने कषाय करा दी, अतः अपने को तो बदलने की चेष्टा नहीं करता, उल्टे दूसरों को बदलने का यत्न करता है, यह भूल जाता है कि दूसरों का परिणमन मेरे आधीन नहीं है।

"मेरा बिगाड़ - सुधार तो मेरे ही आधीन है। पर मुझे सुखी - दुःखी नहीं कर सकता, पर मुझे कषाय करा नहीं सकता।" इस प्रकार यदि

मान्यता ठीक हो जाये तो भी पर से बचाव केवल इसीलिए किया जाता है क्योंकि अभी मुझमें आत्मबल की इतनी कमी है कि पर की मौजूदगी में मैं उसको लक्ष्य करके अपना बिगाड़ कर लेता हूँ, उदाहरण के लिये, जैसे कमजोर आदमी ठण्डी हवा से उसे बुरा जान कर नहीं वरन् अपने स्वास्थ्य की कमजोरी के कारण ही बचताहै।

(3) जीव की तीसरी अज्ञानता पर में इष्ट – अनिष्ट की कल्पना करके राग – द्वेष करना है। यह जीव 'स्व' को भुलाकर निरन्तर 'पर' में ही लगा हुआ है। उन परपदार्थों में जो इसके अनुकुल रहते हैं उनमें यह इष्ट की कल्पना करके राग कर लेता है और जो प्रतिकूल रहते हैं उनमें अनिष्ट की कल्पना करके द्वेषकर लेता हैं इष्ट - अनिष्टपना पदार्थ का कोई गुण-धर्म तो है नहीं, मात्र इसके द्वारा की गई कल्पना ही है। यदि इष्ट - अनिष्टपना वस्तु का गुण-धर्म होता तो कोई एक वस्तु सबको इष्ट ही लगनी चाहिए थी और कोई अन्य वस्तु सबको अनिष्ट ही लगनी चाहिए थी। पर सबको इष्ट या अनिष्ट लगने की बात तो जाने दो, एक ही वस्तु एक ही व्यक्ति को कभी इष्ट लगती है और कभी अनिष्ट। भूख लगी होने पर जो भोजन इतना सुस्वादु और रूचिकर लगता है उसे ही भूख का शमन होने पर देखने की भी इच्छा नहीं होती।

अतः इष्ट-अनिष्टपना जीव में उठने वाली झूठी कल्पनाएँ ही हैं। सर्वत्र ही हमारे सुख -दुःख का या कषायका कारण वस्तु या स्थिति नहीं वरन् उसमें हमारे द्वारा उठाया गया विकल्प या कल्पना ही है। हम चाहे तो इष्ट काविकल्प उठाकर स्वयं को सुखी मान लें, चाहे तो अनिष्ट का विकल्प उठाकर स्वयं को दुःखी मान लें परन्तु वास्तविक आनन्द तो निर्विकल्प रह जाने में ही है- जब चाहे कैसी भी स्थिति हो उसमें हम कोई भी विकल्प न उठाए, और ऐसा हम कर सकते हैं।

प्रति समय हमारे मनमें कुछ न कुछ चलता ही रहता हैं। मन के विकल्पों को भी जानने वाला जो साक्षी आत्मा भीतर है उसकी तो हमें पहचान नहीं, मन को ही हमने अपना होना समझ लिया है। हम पल - पल उलझे हैं या तो भूतकाल में घटी घटनाओं की स्मृतियों में या भविष्य की कुछ योजनाओं इच्छाओं व चिन्ताओं में, या फिर अनेकों ऊल - जलूल बातों के विचारों में। ये विचार या विकल्प किसी भी रूप में सार्थक नहीं।

वर्तमान में ये अशान्ति देकर जाते हैं, भविष्य के लिए भी व्यर्थ में कर्मबंध कर जाते हैं। आत्मशान्ति प्राप्त करने केलिए सबसे पहले हमें विकल्पों की निरर्थकता समझ में आनी चाहिये कि उनके आधीन काम होने का नियम नहीं है। और साथ ही साथ यह भी कि हमारे द्वारा उठाया गया एक भी विकल्प बेकार नहीं जाता, प्रत्येक की हमें भारी कीमत चुकानी पड़ती है।

भूतकाल तो चला गया, वह तो मुर्दा है उसके बारे में हम क्यों सोचें। भविष्य के बारे में विचार करना भी निरर्थक है। क्योंकि कोई भी काम हमारी इच्छा के आधीन तो होता नहीं। जब हमारे विकल्पों के आश्रित कुछ भी नहीं तो हम मात्र वर्तमान में ही क्यों न रहें। जो कुछ भी वर्तमान में घट रहा है उसे केवल देखते - जानते रहें।

(4) **चौथी अज्ञानता इसकी कर्तत्व - बुद्धि है। यह आत्मा है तो ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता-द्रष्टा रूप रहने के सिवाय कुछ भी तो नहीं कर सकता, परन्तु यह स्वयं को पहचानता नहीं,** मात्र ज्ञानरूप रहनें के अपेनकार्य व पुरूषार्थ को जानता नहीं, अतः पर्याय में जो कुछ भी घट रहा है वह हो तो रहा है निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से परतु यह उन सबका करने वाला स्वयं को मान लेता है। इस मिथ्या कर्त्ताबुद्धि के कारण सारा पुरूषार्थ ज्ञाता रूप रहने में नहीं वरन् चौबीसों घंटे कुछ न कुछ उधेड़ बुन करने में ही लगा रहता है। वस्तुस्थिति यह है कि इसके करने के आधीन कुछ भी नहीं

है। यदि परपदार्थों का परिणमन इसके विकल्पों के या इसकी क्रियाओं के ही आश्रित होता तो इसकी सदा ही सारी इच्छाओं की पूर्ति होनी चाहिए थी, परन्तु ऐसा होता तो कभी देखा नहीं गया। कदाचित् कभी इच्छा और कर्म के वैसे ही उदय का संयोग बैठ जाता है तो यह कहता है कि मैंने किया। अपने कर्तापने की मिथ्या मान्यता के विस्तार में इसके ऐसा अनुभव में आता है कि सारा संसार मानो इसके चलाने से ही चल रहा है। यदि यह कर्म का कार्य करना छोड़कर (जिसे यह कर नहीं सकता है, मात्र ऐसा मानता है कि मैं करता हूँ) तथा इस झूठी मान्यता को छोड़कर-मात्र ज्ञाता रह जाएँ, तो भी सारा संसार चलेगा तो अपनी धुरी पर ही, इसको तो खत्म होना नहीं, हाँ, इस अज्ञानी का संसार अवश्य खत्म हो जाये। जन्मों-जन्मों के इसके सारे दुःख आत्यंतिक क्षय को प्राप्त हो जाएं पर यह बात इसकी समझ में बैठती ही नहीं।

(5) **पांचवी अज्ञानता भगवान को कर्त्ता मानने की है।** अपनी इच्छा के अनुकूल इसे कर्म का कार्य होता दीखता है तो यह कहता है कि मैंने किया, और कदाचित् स्वयं से होता नदीखे, अपनी आशाओं पर पानी फिरता दिखाई दे, तो देवी - देवताओं को अपने से अधिक शक्तिशाली समझ कर उनके पास मनन्त मांगने पहुंच जाता है कि "मेरा फलां काम कर देना, ये दे देना, वो देना "और तो और, वीतराग भगवान के मन्दिर में भी इन्हीं संसार, शरीर, भोगों के अभिप्राय को लेकर पहुँच जाता है और वहां सौदेबाजी करता है - "तुम दस लाख दोगे तो मैं चार छत्र-चढ़ाऊँगा। (ऐसी प्रवृत्ति, ऐसी मान्यताएँ ही हमारे जीवन में घूसखोरी का कारण बनी हैं) **धारणा वहीं विपरीत चल रही है। या तो यह स्वयं को कर्ता बनाता है या फिर भगवान को कर्ताबना देता है और सोचता है कि भगवान मेरी सारी इच्छाओं की पूर्ति कर देगें** या फिर इस अज्ञानी की समझ में यह बैठा हुआ कि यथायोग्य पुण्य के उदय से सारी अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है अतः यह पुण्य बंध करने के लिए ही वीतरागी की उपासना करता है और इस रूप में संसार की ही चाह किया करता है।

आत्मिक सुख की प्राप्ति तो आत्मदर्शन से होती है, जितनी कषाय मिटे उतना सुख और जितनी कषाय शेष रहे उतना दुःख है। अतः सुख के लिए कषाय के नाश का उपाय करना चाहिये था। परन्तु इसके तो संसार - शरीर - भोगों की प्राप्ति का ही अभिप्राय है, अतः यह मंदिर में भी इस मान्यता को लेकर ही जाता है कि देवी-देवता सुख बांटते है। इसके सारे देवताओं में समभाव है - किसी को भी पुजवा लो, सुदेव हो, कुदेव हो, धरणेन्द्र-पद्मावती हो, चाहे कोई हो।

(6) छठी अज्ञानता वीतरागी देव - गुरू - शास्त्र के सम्बन्ध में है। यदि जीव को कभी सच्चे देव - गुरू शास्त्र की प्राप्ति भी हुई और इसका मोक्ष - प्राप्ति का ध्येय भी बना तो यह देव - गुरू शास्त्र में ही अटक गया, वहाँ भी इसकी अज्ञानता छिपी नहीं रहती।

आचार्यो ने सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताया है। अपने को अपने रूप, ज्ञाता - द्रष्टा रूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अपने - रूप जानना सम्यग् ज्ञान है, और ज्ञाता - द्रष्टा रूप रह जाना ही सम्यक्चरित्र है। इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है, और वीतरागी देव - गुरू - शास्त्र उस मोक्षमार्ग की प्राप्ति में निमित्त या माध्यम होते हैं। देव दर्शन के माध्यम से जीव को आत्मदर्शन करना था, गुरु - दर्शन से भी आत्मदर्शन करना था, और शास्त्र के द्वारा भी अपनी आत्मा का स्वरूप समझकर उस आत्मा को अपने भीतर खोजना था, परन्तु अज्ञानी ने देव - दर्शन, पूजन, भक्ति करके उन पर श्रद्धा करने से अपने आपको सम्यग्दृष्टि मान लिया, शास्त्र ज्ञान से अपने आपको सम्यग्ज्ञानी मान लिया, और गुरू की बाहरी शुभ क्रियाओं - व्रत तप, उपवास आदि - को ही मोक्ष मार्ग मानकर व उन्हें अपना कर उनसे स्वयं को सम्यक्चारित्री मान लिया। पर असली मोक्षमार्ग की खोज इसने नहीं की। शास्त्रों का इसने खूब अध्ययन किया। उनमें यह कथन भी तो आया है कि "द्रव्यलिंगी मुनि के सच्चे देव-शास्त्र

गुरू के मानने पर भी, ग्यारह अंग तक अध्ययन कर लेने पर भी, और शुभ क्रियाओं का पालन करने व परीक्षहों को सहने की पराकाष्ठा होने पर भी मोक्षमार्ग नहीं हुआ अतः मोक्षमार्ग कुछ और ही है।" इस कथन पर इसने ध्यान ही नहीं दिया।

शास्त्रों में देव - गुरू शास्त्र की भक्ति व स्वाध्याय को शुभ राग व पुण्य बंध का, और बंध को संसार का कारण बताया गया है। **परन्तु अज्ञानी ने पूजन, भक्ति व स्वाध्याय से ही मोक्ष मान लिया और इस रूप में बंध को ही संवर-निर्जरा मान कर तत्वों का सही श्रद्धान नहीं किया, एवं शुभ राग में ही धर्म मान कर आचार्यों के अभिप्राय की ओर ध्यान नहीं दिया।** आचार्यों ने देव-गुरू-शास्त्र के श्रद्धान को कहीं सम्यक्त्व कहा भी है तो वहां उस कथन को ठीक से समझ लेना चाहिए कि सम्यम्त्व तो निश्चय से आत्मदर्शन ही है परन्तु देव गुरू - शास्त्र क्योंकि उस आत्मदर्शन में माध्यम बनते हैं अतः उनके श्रद्धान को भी व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है। और, माध्यम भी वे हमारे लिए तभी बनेगें जब हम उन्हे माध्यम बनाएँगे।

देव - शास्त्र - गुरू के माध्यम से आत्मदर्शन करना है। **यदि केवल देव - शास्त्र - गुरू में ही अटके रहें तो मात्र पुण्य-बंध होगा, और यदि उनको माध्यम बनाकर आत्मदर्शन करेगें तो मोक्षमार्ग बनेगा। शास्त्रों में विवक्षा - भेद से अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार के कथन मिलते हैं। उन्हें ठीक प्रकार से समझ कर बुद्धि में अच्छी तरह बैठा लेना चहिए कि कहाँ कौन-सी विवक्षा से क्या कहा गया है।**

स्वाध्याय के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात और भगवान् आचार्यो ने तो ग्रन्थों में वर्णन किया है कि शरीर व आत्मा अलग - अलग हैं परन्तु हमें जोर देना है कि इसमें हमें क्या दिखाई देता है। **शास्त्रों में तो आचार्यों ने अपने जीवन का अनुभव लिखा है और उनका अनुभव पढ़ना हमारे लिए इसी रूप**

में कार्यकारी हैं कि वह हमारा भी अनुभव बने। जब वह हमारा अनुभव बनेगा तभी हमारी परपदार्थ की पकड़ छूटेगी। जीवन में परिवर्तन तो जो हमें दिखाई देता है उससे होगा, न कि जो उनको दिखाई देता है उससे। जो उनको दिखाई देता है वह तो हमारे लिए मात्र गवाही बन सकती है।

(७) सातवीं अज्ञानता – जब तत्वज्ञान सही नहीं होता है तब अनंतानुबधी कषाय होती है। निमित्त को कर्ता मानना ही अनंतानुबंधी का जन्म है। आत्मस्वरूप को जब नहीं जानता है तब शरीर में अपनापना आता है, वहाँ एक शरीर में ही अपनापना नहीं है परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा चौरासी लाख योनियों में से कोई भी मिल जाती तब सबमें अपनापना आ जाता है। इस प्रकार इसके अपनेपने का विस्तार अभिप्राय में अनन्त पदार्थों में रहता है, व्यक्तता जो सामने मौजूद है उसमें हो रही है। इसी प्रकार समस्त पदार्थों को यह इष्ट अनिष्ट मानता है। शरीर के लिए इष्ट को इष्ट शरीर के लिए अनिष्ट को अनिष्ट मानकर अनंत पदार्थो में संभावना की अपेक्षा अथवा मान्यता की अपेक्षा रागद्वेष रखता हैं। जबकि वस्तु इष्ट अनिष्ट है नहीं। बुखार वाले को मिट्ठा खारा लगता है, पीलिया वाले को दूध पीला लगता है वस्तु वैसी नहीं है दोष हमारे रोग का हैं। इसी प्रकार जब निमित्त को कर्त्ता मानता है तब अनंत जीव हैं और अनन्तानन्त पुद्गल, सब हमारे सुख – दुःख के निमित्त हो सकते हैं अर्थात् सुख – दुःख के कर्ता हो सकते हैं इसलिये उन सबके प्रति रागद्वेष करने का अभिप्राय बन जाता है अर्थात् अनंतानंत पदार्थों के प्रति रागद्वेष का अभिप्राय बन गया इसलिए अनन्तानुबन्धी राग – द्वेष हो गया। अपने से भिन्न अनन्तानंत पदार्थों के लिए हम निमित्त हो सकते है इसलिए हम उन अनन्तानंत पदार्थों का बुरा-भला कर सकते है। अतः अभिप्राय में अनन्त गुणाकार अभिमान से यह ग्रस्त हो जाता है।

यह निमित्त का कर्तापना अपने स्वभाव को जानने से और यह जानने से मिटता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को दुःखी सुखी नहीं कर सकता,

राग-द्वेष नहीं करा सकता। हरेक द्रव्य अपना-अपना परिणमन करता है। **एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय में निमित्त मात्र होती है परन्तु कर्ता नहीं हो सकती। अनन्तानुबंधी कषाय का सम्बन्ध तीव्र और मंद क्रोधादिक से नहीं है परन्तु कषाय करने का अभिप्राय होने से है। अन्यथा द्रव्यलिंगी शुक्ल लेश्या के धारी के तो अनन्तनुबंधी चालू है और नरक के नारकी सम्यग्दृष्टी के अनन्तनुबन्धी नहीं है यह सम्भव नहीं हो सकता।**

इस प्रकार इस जीव की अज्ञानता सब ओर फैली हुई है, और 'स्व' को न पहचान कर शरीर व परपदार्थों को ही यह अपने रूप देख-जान रहा है।

पाँच - लब्धियाँ

जैसा कि ऊपर विचार कर आये हैं, अज्ञानी जीव को न तो अपने स्वरूप की खबर है, न सच्चेदेव शास्त्र गुरू के स्वरूप की पहचान है, और न ही उनको पूजने के प्रयोजन का विचार है। **सबसे पहले तो अपने प्रयोजन को ठीक करने पर दृष्टि होनी चाहिए कि मैं अपनी कषाय के कारण दुःखी हूं, वह कषायआत्मदर्शन से मिटेगी और वह आत्मदर्शन - सच्चे देव - शास्त्र-गुरू के माध्यम से मुझे करना है।** यह सच्चे देव-गुरू-शास्त्र की खोज करके पता लगायेगा कि कहाँ से मुझे तत्त्व मिल सकता है। उनका निर्णय करके यह उन्हें भी आत्मा को जानने व पहचानने का ही माध्यम बनाएगा।

सच्चे देव - गुरू - शास्त्र का निमित्त भी बड़े भाग्य से ही कदाचित किसी जीव को मिलता है। उसके मिलने के बाद आत्मदर्शन का पुरूषार्थ करके आत्म - अनुभव कर लेना बहुत बड़े साहस का काम है, तीव्र रूचि चाहिए उसके लिए। परन्तु प्रत्येक सैनी पंचेन्द्रिय जीव के पास

इतना 'क्षयोपशम' है ज्ञान शक्ति का इतना उघाड़ है कि वह स्वयं को देख-जान सके। **शक्ति का उघाड़ तो उतना ही हैं, अब चाहे इसे भोगों में लगा दो चाहे स्वभाव में लगा दो चुनाव करने में यह स्वतन्त्र** है। यदि इसने इस शक्ति का सदुपयोग न करके इसे भोगों में लगा दिया तो वह घटते - घटते अक्षर के अनंतवें भाग मात्र रह जायेगी और यह अपने चिर - परिचित स्थान निगोद में पहुँच जायेगा। इसके विपरीत, यदि इस शक्ति का सही उपयोग करे और स्वभाव में लगा देवें तो वही शक्ति बढ़ते -- बढ़ते एक दिन केवलज्ञान तक पहुँच जायेगी। जैसे किसी के पास एक लाख रुपया है, अब वह उसे कहाँ लगाए, यह उसकी स्वतंत्रता है। यदि उसने सही चुनाव करके उसे ठीक व्यापार में लगाया तो वह एक लाख से बढ़ता हुआ करोड़ों तक पहुँच जाता है, अन्यथा एक लाख भी कम होते - होते नहीं के बराबर रह जाता है।

जब जीव में शक्ति का उपयोग करने की सद्बुद्धि जागृत हो, कषायों की मंदता हो, परिणामों में 'विशुद्धि' आये, संसार में आकुलता भासित हो, तब स्व की खोज की जिज्ञासा इसमें पैदा होकि - ''अनादिकाल से इस शरीर को अपनाकर मैं संसार में दुःखों ही दुःखों का पात्र बनता रहा हूँ। जन्म के समय मैं इसे अपने साथ लाया नहीं था और मरण के समय भी यह यहीं पड़ा रह जायेगा। अतः ऐसा लगता है कि मैं इस रूप नहीं हूँ। यह जड़ मुझसे कोई जुदा ही पदार्थ है जबकि मैं चेतन जाति का हूँ। अहो ! मैंने बड़ी गलती की जो आज तक इसे अपना मानता रहा। इसको अपना कर मैंने क्या - क्या पाप नहीं किये, अभक्ष्य भक्षण किया, हिंसा - झूठ - चोरी - कुशील - अन्याय रूप आचरण किया। अब मैं कैसे स्व-तत्व को समझूँ ''कहां जाऊँ'' ?

ऐसी पात्रता जब यह जीव पैदा करता है, ऐसी प्यास जब इसके उत्पन्न होती हैं तो बरसात को आना ही पड़ता है। कहते हैं कि जब राजस्थान में धरती

बुरी तरह प्यासी हो जाती है तो फट जाती है - प्यास के मारे अपना मुंह खोल देती है - उस समय वर्षा अवश्य होती ही है। उसी प्रकार यहाँ भी ऐसा पात्र जब तैयार होता है ताक कहीं विपुलाचल से मेघ - गर्जना (वर्षा) होनी ही पड़ती है। पात्र ही वर्षा को नहीं खोजता, कभी-कभी वर्षा भी पात्र को खोज लेती है। भगवान सर्वज्ञ कहते हैं कि तू अपने पात्र को सीधा तो कर, वर्षा आयेगी, जरूर आयेगी। अगर पात्र ही उल्टा रखा हो तो बरसात भी क्या करेगी आकर, वह आई हुई भी नहीं आने के ही बराबर है और यदि तेरा पात्र सीधा हो तो 'देशना' की प्राप्ति तुझे अवश्य होगी, **अवश्य ही किसी कुन्दकुन्द की दया को बहना होगा, कि यह मौका मत चूक जाना, यह चूक गया तो अनंत संसार में रुलना पड़ेगा।**

अब तो स्वभाव को देख, ज्ञान के उस अखंड पिण्ड को देख जो वास्तव में तू है। वर्तमान में तुझमें इतनी शक्ति है कि गृहस्थी में रहते हुए भी तू सवयं को, इस भगवान आत्मा को देख सकता है। - आँख से नहीं, इन्द्रियों से नहीं अपितु स्वयं से ही देख सकता है। अपने को अपने रूप देखना गृह-त्याग की या किसी निर्जन सुनसान वन की अपेक्षा नहीं रखता। अभी इसी समय, इसी परिस्थिति में, इसी क्षेत्र में तू उस अप्रतिम आनन्द को प्राप्त हो सकता है, उस चैतय का अनुभव कर सकता है, और यही वास्तव में धर्म है।

धर्म के साथ कोई ऐसी बात नहीं कि आज करो और फल चार दिन बाद मिले। धर्म रूप तुम अभी हो जाओ और अभी शान्ति की प्राप्ति कर लो। देख, कहीं एक समय भी, एक क्षण भी, व्यर्थ न चला जाए। वह कहीं बाहर नहीं, तू ही हैं, इसलिए तू उसे पा सकता है। वह इन चर्म-चक्षुओं से नहीं दीखेगा, उसे देखने के लिए तो तुझे भीतर की आँखे खोलनी होगी। भीतरी आँखें खोलने पर तुझे ज्ञानरूपी समुद्र स्वयं का आह्वान

करता हुआ प्रतीत होगा कि आओ, मुझमें मग्न हो जाओ, अनंतकाल से भीषण गर्मी में संतप्त हुए तुम घूम रहे थे और मुझे तुमने पाया नहीं, अब तुमने बड़े यत्न से मुझे पाया, देखते क्या हो दूर से, लगा लो डुबकी, डूब जाओ इस आनन्द के, ज्ञान के सागर, मुझमें। जैसे कोई स्वच्छ निर्मल जल से भरा हुआ तालाब हो और अत्यन्त गर्मी में झुलसा हुआ कोई आदमी वहाँ आए और उसकी शीतलता, स्वच्छता व निर्मलता को देखकर अनायास ही उसके मुंह से निकल पड़े - अरे ! यह तो मुझे बुला ही रहा है कि स्नान कर अपना ताप बुझाने के लिए।

इसी प्रकार आचार्य कुंदकुंद कह रहे है कि इस अमूल्य अवसर को खो मत देना। कहीं पुण्य के फल में आसक्त मत हो जाना। यह सबसे बड़ा धोखा है जो व्यक्ति स्वयं को दे लिया करता है, इसे तूने अनंत बार भोगा है, ज्ञानियों ने, चक्रवर्तियों ने इसे पाप समझकर छोड़ा है। बड़ी मुश्किल से यह मौका तेरे हाथ आया है, 'कथमपि मृत्वा' - किसी प्रकार से मर कर भी उस तत्व की प्राप्ति कर ले। अगले जन्म पर छोड़ेगा तो फिर अनंत जन्म लेने पड़ेगे। ज्ञानी की श्रद्धा में एक भी भव नहीं, वह एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहता, असमर्थता से चाहे अनेक जन्म धारण करने पड़े।

इस प्रकार आचार्य कुंदकुंद व आचार्य अमृतचन्द्र के समान किसी ज्ञानी की ऐसी दिव्य - देशना को सुन कर यदि इसे यह समझ में आये कि आज तक मैंने बड़ी भूल की थी जो संसार - शरीर - भोगों की तरफ तो मुंह किया हुआ था और भगवान आत्मा की ओर पीठ की हुई थी, और परमात्मा बनने का निर्णय करके यह अपनी **तत्वसम्बन्धी रूचि में तीव्रता लावे तो कषायों में और मन्दता हो, 'प्रायोग्यलब्धि'** हो और फिर इसका आत्मा के अनुभव का पुरूषार्थ जाग्रत हो। यहाँ तक चार लब्धियें हुई, **पांचवी करणलब्धि तो तब होगी जब यह अपने को अपने में खोजेगा और स्वानुभव होगा। स्वानुभव ही सम्यग्दर्शन**

है, वही सम्यग्ज्ञान है वही मोक्ष का मार्ग है, वह सब कुछ है।

जीव का वह सौभाग्य कैसे जगे ? कैसे इसको स्वानुभव हो? इसका मार्ग यही है कि कोई आत्मानुभवी गुरू यदि सुलभ हो तो उसके उपदेश से सम्पूर्ण वस्तु - तत्व को जान कर (गुरू होना चाहिए अनुभवी ही, क्योंकि जो स्वयं उस मार्ग से न गया हो वह दूसरे को मार्ग क्या दिखायेगा) और यदि ऐसा गुरू प्राप्त न हो तो स्वयं ही अध्यात्म ग्रन्थों का खूब अभ्यास करके, उनसे आत्मा के बारे में जानकर, अपने भीतर वह आत्मा को देखे। गुरू की इस सम्बन्ध में बड़ी महत्ता है क्योंकि वह जीवंत शास्त्र है, कहीं भी कुछ छोटी-सी भूल या रुकावट यदि है तो वह हाथ पकड़कर झट रोक देगा। परन्तु फिर भी यदि ऐसा गुरू उपलब्ध न हो पाये, तो भगवान कुंदकुंद की वाणी का तो इस जीव को सहारा है ही।

आत्मा के बारे में पूरी जानकारी अध्यात्म ग्रंथों से इसे हो जायेगी और स्वानुभूति का तरीका भी ज्ञात हो जायेगा। वह इसकी बुद्धि में खूब अच्छी तरह बैठ जाए कि वस्तु - तत्व यही है, इसी प्रकार है, दूसरा नहीं हैं, और दूसरी प्रकार हो भी नहीं सकता। फिर उसके बाद यह अपने अन्दर ही जहाँ 'वह' है उस चैतन्य को देखने का पुरुषार्थ करे।

वह देवों का देव इसके भीतर ही विराज रहा हैं। कहीं बाहर नहीं है। उसे यह भीतर ही देखे, ढूंढे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होगी क्योंकि वहाँ वह स्वयं है ही। दो बातों का ज्ञान तो इसे दिया जा सकता है, आत्मा के बारे में ज्ञान एवं अनुभव के मार्ग का ज्ञान, पर अनुभव का पुरूषार्थ तो इसे स्वयं ही करना है।

आत्मा के बारे में जानना शास्त्र से हो जाता है अथवा शास्त्र के जानकार के द्वारा हो सकता है परन्तु आत्मा को जानना स्वानुभूति के द्वारा हो सकता है।

सम्यक्‌दर्शन का सम्बन्ध आत्मा को जानने से है। आत्मा के बारे में जानना और आत्मा को जानना इसमें बहुत बड़ा मौलिक भेद है।

आत्मा के बारे में जानकारी :

संसार में दो मुख्य द्रव्य हैं – जीव और पुद्‌गल। जीव अनन्त हैं, पुद्‌गल अनन्तानन्त है। अनादि काल के जीव के साथ द्रव्यकर्म का संयोग पाया जाता है और उस द्रव्यकर्म के उदय से आत्मा के साथ शरीर का और उससे सम्बन्धित अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध होता है।

यह जीव स्वयं को एक अमूर्तिक चैतन्य तत्व न पहचान कर अपने को शरीर व पर पदार्थ रूप मान लेता है, तब इसमें अनेक प्रकार की इच्छाओं का जन्म होता है। आत्मा तो एक त्रैकालिक नित्य और ध्रुव द्रव्य है, परन्तु शरीर के साथ रोग जन्म, जरा, मरण, भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी आदि की अनेक समस्याएँ हैं, और उन भूख – प्यास आदि के शमन के लिए यह जीव अनेक इच्छायें उठाता है। उन इच्छाओं की पूर्ति में जो कुछ भी सहकारी होता है उसमें यह राग, और जो कुछ प्रतिकूल पड़ता है उसमे द्वेष कर लेता है। अतः राग – द्वेष आदि अनेक विकारी भाव आत्मा में पाए जाते हैं।

इस प्रकार अनादि काल से ही जीव के साथ द्रव्यकर्म का, उस द्रव्यकर्म के उदय के कारण राग–द्वेष आदि भावकर्म व शरीरादि नोकर्म का, और शरीर से सम्बन्धित अन्य चेतन व अचेतन पदार्थो का संयोग पाया जाता है। बाहर में चेतन – अचेतन पदार्थो का संयोग जीव के अपने पाप–पुण्य के उदय के अनुसार शुभ व अशुभ होता है, शरीर की क्रिया भी शुभ व अशुभ होती है, और अतरंग में भाव भी शुभ व अशुभ – दो तरह के होते हैं। यह सारा काम द्रव्यकर्म के उदय का है, यह सब कर्मधारा है, इसमें चेतना का अपना कुछ भी नहीं है।

चेतन - तत्व ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणों का पिण्ड है। ज्ञान गुण इनमें मुख्य हैं क्योंकि ज्ञान स्व - पर प्रकाशक है। अत: चेतन मात्र ज्ञाता है और उसका काम जानने - देखने का है। प्रत्येक व्यक्ति में यह ज्ञानधारा चल रही है, परंतु ज्ञान स्वयं को पहचान नहीं रहा है, किसी निद्रा में मूर्छित है, और गहला होकर कर्मधारा में अपनापन मान रहा हैं। **परन्तु कर्मधारा में अर्थात्शुभ, अशुभ आदि विभावों और शरीर में अपनापन मानते हुए भी ज्ञान रूप चैतन्य कभी भी राग-द्वेष रूप या शरीर नहीं होता सदेव चैतन्य ही बना रहत्ता है।** जैसे घी के साथ मिट्टी मिली हुई है और उसको हमने गर्म करदिया है। मिट्टी अलग द्रव्य है और घी अलग। गर्म होते हुए भी वह घी स्वभाव में अर्थात् चिकनेपने में ही विद्यमान है। गर्मपने के अभाव में भी चिकनेपंने की अर्थात् घी की उपलब्धि होती है,

परन्तु चिकनेपने के अभाव में घी की उपलब्धि नहीं होती, अत: चिकनापन ही घी का सर्वस्व है। घी में गर्मी स्वयं नहीं आई अपितु अग्निजन्य है। यहाँ द्रष्टान्त में मिट्टी के स्थान पर शरीर चिकनेपने के स्थान पर चैतन्य, गर्मी के स्थान पर भावकर्म और अग्नि के स्थान पर द्रव्यकर्म हैं। मिट्टी और घी के मिश्रण के समान शरीर व चैतन्य मिलकर एक से भास रहे हैं, परन्तु हैं वे पृथक-पृथक द्रव्य, और गर्म घी के समान चैतन्य भी राग-द्वेष आदि भाव कर्मों से तप्तायमान हो रहा है, परन्तु ये सारे विकारी भाव हैं चेतना के अपने नहीं, द्रव्यकर्म - जन्य हैं, द्रव्य कर्म के उदय से आत्मा में हुए हैं, अत: पर ही हैं।

चीजें वहाँ दोनों ही हैं - ज्ञान भी और कर्म भी - और देखने वाला यह स्वयं है। इसे स्वयं ही चुनाव करना है कि मैं अपने आपको ज्ञान - रूप देखूं या कर्म व उसके फल - रूप। **अपने को पर रूप देखना तो संसार है, देखना - पढ़ना नहीं, सुनना नहीं, कहना नहीं-मात्र देखना। जोर देखने पर है, और अपने को अपने रूप देखना ही मोक्ष है। अपने को**

अपने रूप देना ही मोक्षरूप है, मोक्ष का मार्ग है, सम्यग्दर्शन है, स्वानुभूति है। "पर से हटना" अपने में आना है, "अपने में आना" पर से हटना है जोर अपने में आने पर है। परमार्थ अपने में लगना है-अपने में लगना वह धर्म है पर से हटना तो मात्र व्यवहार है।

जब तक ज्ञान मूर्च्छित अवस्था में है - मूर्छित अवस्था का तात्पर्य है कि जैसे मतवाला स्वयं को या अपने घर को नहीं जानता और किसी पर में अपनापन मान लेता है, वैसे ही यह भी किसी पर में, शरीर में, पुण्य-पाप के उदय में या शुभ - अशुभ भाव में अपनापना, अहंपना मान लेता है कि यह मैं, ये मेरे और मैं इनका कर्ता। अशुभ क्रिया और अशुभभाव को, शुभ क्रिया व शुभभाव रूप पलटने में ही यह अपना पुरुषार्थ समझता है और इसी को मोक्षमार्ग मान लेता है। कभी ज्ञान में जागृत होने का पुरुषार्थ किया ही नहीं, ज्ञान के जागृत होने का सम्बन्ध न तो शुभ - अशुभ भावों से है न शुभ - अशुभ क्रिया से है, और न ही क्षयोपशमिक ज्ञान को अर्थात् पर्याय में ज्ञान शक्ति के उधाड़ को बढ़ाने से है।

अतः सम्यग्दर्शन के लिये शुभभावों का, शुभ क्रिया का व क्षायोपशमिक ज्ञान को बढ़ाने का पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं है। ज्ञान को जाग्रत करने के लिए तो इसे भीतर में जानने वाले को पकड़ना होगा। शुभ अशुभ भावों व क्रियाओं में अपनापन न होकर उस जानने वाले में अपनापन स्वामित्वपना, कर्तापना, एकत्वपना आये तो शुभ-अशुभ भाव करने का मिथ्या अहंकार नष्ट हो और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो।

प्रत्येक व्यक्ति के प्रति समय तीन क्रियायें हो रही है शरीर की शुभ या अशुभ क्रिया, परिणामों की शुभ या अशुभ क्रिया और ज्ञान की जाननेरूप क्रिया। क्योंकि जानने की क्रिया इसकी पकड़ में नहीं आ रही

है और शरीर व परिणामों की क्रियाये पकड़ में आ रही है, इसीलिये यह जीव स्वयं को शरीर या परिणाम रूप ही समझ लेता है। परन्तु जानने की क्रिया तो प्रति समय हो रही है। शरीर की कैसी भी स्थिति हो उसका जानना हो रहा है। तभी तो यह कह सकता है कि कुछ देर पहले में ऐसे बैठा था। जिस समय उस रूप में शरीर की बैठने की क्रिया हो रही थी, उसी समय वह जानने वाला उसे जानता जा रहा था।

शरीर की क्रिया व जानने की क्रिया में कोई समय भेद नहीं। इसी प्रकार परिणामों की भी चाहे कोई अवस्था हो उसका जानना भी उसी समय साथ साथ होता जा रहा है। कोई है वहां पर जो सतत जान रहा है कि अभी क्रोध रूप परिणाम थे और अब क्रोध-रूप परिणाम नहीं है। पूछने पर यह ऐसे बताता भी है। इसका अर्थ है कि उन सबको जानने वाला कोई वहां जरूर होना चाहिए। क्रोध के सद्भाव में उस जानने वाले ने क्रोध को जाना, और उसके चले जाने पर वह अब क्रोध के अभाव को भी जान रहा है। वह जानने वाला सतत, एक रूप से, जो कुछ भी परिणमन हो रहा है उस सबको जान रहा है, जानता जा रहा है। उसका काम मात्र जानने का है।

कर्म का फल बदल रहा है पर वह जान रहा है, जानने वाला नहीं बदल रहा है। वह जन्म को भी जान रहा है और मृत्यु को भी जान रहा है परन्तु स्वयं न मरता है, न जीता है। यह अवस्था, यह जाननापना सभी में है पर जानने वाला स्वयं को नहीं देख रहा है **अपना विकारी परिणमन, शरीर की क्रिया और शरीर के साथ संयोग - ये सब उसके ज्ञेय हैं और वह इनका ज्ञाता है। ज्ञाता का कार्य हो रहा है, नहीं तो इन सबको कौन जान सकता था ?** दो हैं वहां पर, ज्ञान और कर्म साथ साथ चल रहे हैं। हर समय सोते जागते - एक वह है जो सो रहा है, एक उसका जानने वाला है, एक वह है जो खा रहा है, चल रहा है, देख रहा है, रो रहा है, और एक

वह है जो खाते हुए भी खाता नहीं, चलते हुए भी चलता नहीं, रोते हुए भी रोता नहीं क्रोधादि होते हुए भी क्रोधी नहीं होता, दु:ख होते हुए भी दु:खी नहीं होता। सुख होते हुए भी सुखी नहीं होता, परन्तु सब अवस्थाओं को मात्र जान रहा हैं।

अब इन दोनों में से जीव को यह निर्णय करना है कि मैं कौन हूँ? **क्योंकि आत्मा नित्यहै, अतः मैं जानने वाला ही हो सकता हूँ, और ये सारे परिणमन अनित्य हैं, निरन्तर बदलते जा रहे हैं, अतः मैं इन रूप नहीं हूँ।** यदि मैं इन रूप होता तो इनके नाश के साथ मेरा नाश हो जाना चाहिए था। परन्तु मेरी सत्ता इनके विनष्ट होने पर भी बनी हुई है, अतः इन रूप कैसे हो सकता हूँ।

इस प्रकार पहले तो यह बुद्धि के स्तर पर - विकल्प रूप से - निश्चित कर कि मैं तो केवल जानने वाला हूँ और बाकी सब पर हैं। ऐसे निर्णय के बाद अब उस जानने वाले में जहां कि वह है, अपने भीतन - अपनी सत्ता की अनुभूति करनी है।

स्वानुभव के मार्ग का ज्ञान :

प्रश्न होता है कि ऐसी अनुभूति कैसे हो? बड़ी कठिनाई आती है यहां पर कि जो कुछ भी नि:शब्द जाना गया है, उसे शब्दों में कैसे कहें? जो स्वयं निर्विकल्प रूप है उसे विकल्प में केसे कहें परन्तु फिर भी उसकी प्राप्ति के उपाय को कहने का कुछ साहस किया जाता है। हममें मन के विचारों की, श्वास की, वचन की व काय की जो भी क्रियायें प्रतिसमय होती जा रही है, चेतना उनकी साक्षीभूत बनी उन्हें निरन्तर देखती जा रही है। परन्तु उन विचारों आदि को हमने अपना होना समझ लिया है। और उस साक्षी को हम पहचानते नहीं जबकि आत्म - अनुभव के लिए उस साक्षी का अभ्यास ही अपेक्षित है। साक्षीभाव का अर्थ है दर्शन अर्थात् बिना सोचे देखना। साक्षी है

निर्विचार - दशा, जहां मात्र देखना है। तो अपने विचारों के, या श्वास के या मंत्र वा पूजा का उच्चारण करते हुए उसके, साक्षी बनकर हम अपने चैतन्य में अपनी सत्ता की अनुभूति कर सकते हैं।

मन साक्षी – **हमारी जितनी भी आत्म – शक्ति है उसका एक छोटा अंश तो शरीर की क्रिया में व्यय हो रहा है जबकि उसका अधिकांश मन के द्वारा विचार करने में जा रहा है। जो भी शक्ति वाणी या मन में जा रही है उसे ही समेट कर ज्ञाता में, उस जानने वाले में, लगाना हैं।**

इसका एक उपाय यह है कि मन में जो कुछ भी भाव चल रहे हैं, हम उनको देखना चालू करें। **शक्ति वह एक ही है इसलिए जब तक मन के विचार वा विकल्प चल रहे हैं तब तक ज्ञातापन नहीं, और जब वहीं शक्ति ज्ञाता में लग जाएगी तो विचारों को बंद होना ही पड़ेगा।** ये विचार ही दिन के स्वप्न हैं, ये खुली आंखों चलते हैं और रात वाले आंखे बन्द करने पर चलते हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं। इन विचारों का कोई अर्थ नहीं, निरर्थक हैं। स्वप्न को, जैसे जागकर फालतू समझा जाता हैं, वैसे ही ये विचार फालतू हैं परन्तु इनके होने की कीमत हमें चुकानी पड़ती है। विचार आता है और चला जाता है, परन्तु चेतना पर संस्कारों के रूप में अपनी छाप छोड़ जाता है। वे संस्कार भविष्य में फिर उभरते हैं और चेतना फिर उस रूप परिणमन करती हैं।

अतः मन जब तक है, तब तक दुःख है, मन जब तक है तब तक नरक है। अब मन का आश्रय छोड़ो, मन की खिड़की से हटो यही ध्यान का अर्थ है। मन से हटे कि निर्विकार हुए। ध्यान में बैठो और विचारों को देखते जाओ, देखते जाओ, चाहे शुभ विचार हो या अशुभ - उसका कोई भी विरोध मत करो कि ऐसा क्यों उठा और ऐसा क्यों नहीं उठा? तुम्हारा काम है मात्र जानना, उस जाननपने पर जोर देते जाओ। तुम

उन विचारों को न तो करने वाले हो, न रोकने वाले, तुम तो उन्हें मात्र जानने वाले हो, अपना काम किए जाओ।

तुम मन नहीं, तुम देह नहीं, जरा भीतर सरक जाओ और देखते रहो। मन को कहो – "जहां जाना हो जा, जो विचार उठाने हैं उठा, हम तो बैठकर तुझे देखेगें।" जैसे ही यह कहकर देखना चालू किया कि तुम पाओगे कि मन सरकता ही नहीं – तुम करके देखना; आज ही करके देखना, यह मन तब अन्तिम विकल्प उठाएगा कि छोड़ न किसमें लग गया तू, पहले ही ठीक था, सब बातें झूठी हैं। **पर तुम्हे इस मन से ऊपर उठना है। अगर तुमने धैर्य रखा और देखते ही गए, तो तुम पाओगे कि कभी–कभी कुछ होने लगता है, मानो बरसात की फुहार का एक झोंका आया हो।** एक क्षण के लिये सब शून्य हो जाता है, निर्विकार हो जाता है। अगर ऐसा हुआ तो चाबी मिल गई कि निर्विकार हुआ जा सकता है। और, जो एक क्षण के लिए हो सकता है वह एक मिनट के लिए एक घण्टे के लिए, एक दिन के लिए वह हमेशा के लिए क्यों नहीं ? पहले बूंद – बूंद बरसेगा फिर एक दिन तूफान आ जाएगा, बाढ़ आ जाएगी। तब क्या होगा? वह होगा जो आज तक कभी नहीं हुआ था। मालूम होगा कि भीतर कोई जागा हुआ है, बाहर में सोये हुए भी वह जागा हुआ मालूम देगा, चलते हुए भी अनचला मालूम देगा, बोलते हुए भी अनबोला दिखाई देगा। बाहर में सारी क्रियाएँ होगीं पर 'उसमें' कुछ भी होता मालूम न होगा। जिसकी मौजूदगी में तुम शांत होने लगो, जो विचारों से बार–बार हटाकर तुम्हें भीतर पहुंचाने लगे, वही साक्षीभाव है।

साक्षी की गैर मौजूदगी ही मन है। जब साक्षी सोता है तो मन अपना काम करता हैं जैसे ही तुम जगे, सावधान हुए साक्षी बने, वैसे ही पाओगे कि मन गया। तुम्हारा संसार तुम्हारे मन में है। साक्षी हुए मन

गायब हो जाता है। मेटोगे किसको? जब तुम हो तब वह नहीं, और जब वह है तब तुम नहीं। जब तक मन के विचारों में तुम्हें रस आ रहा है, उनकी और तुमने मुंह कर रखा है, तब तक ही उन्हें बल मिल रहा है। जैसे ही तुमने मन की ओर पीठ की वैसे ही तुम उस साक्षी के, आत्मा के सम्मुख हो जाओगे, सारे बिकार – विकल्प गायब हो जाएगें, सब शून्य हो जाएगा, और मात्र एक जानने वाला रह जाएगा – तभी अपना दर्शन होगा।

मंत्र व श्वास साक्षी – णमोकार मंत्र का उच्चारण करो और अपने ही कानो से सुनो। जहां मन और कहीं गया, सुनना बंद हो जाएगा। बार–बार सुनने की चेष्टा करो। अगर कुछ देर तक सुनना चालू रहा तो बोलना मंद होने लगेगा, उपयोग में स्थिरता आने लगेगी, विचार जो भीतर में चल रहे थे वे रूक जाएँगे। केवल मंत्र का बोलना और सुनना चालू रहेगा। चेतना की शक्ति सुनने में लगेगी तो बोलने में कम होने लगेगी बोलना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर जीभ हिलनी भी बंद हो जाएगी, परन्तु मंत्र का उच्चारण अन्तर में चलता रहेगा, और सुनना भी अन्तर में चालू रहेगा। इससे आगे बढ़ोगे तो मंत्र रूक जाएगा, और श्वास का आना जाना जो अभी तक कभी अनुभव में नहीं आया था, मालूम होने लगेगा। परन्तु तुम श्वास लेने वाले मत बन जाना, श्वास के जानने वाले ही रहना। काफी दिन तक इसका अभ्यास चालू रखना होगा।

निरन्तर अभ्यास करते रहोगे तो शान्ति मिलने लगेगी, परमात्मा का आनन्द का झोंका आने लगेगा – सागर तो अभी नहीं दिखा पर सागर से होकर आने वाली ठण्डी हवा लगने लगेगी, रस आने लगेगा। परन्तु रूकना मत, कुछ होने वाला है, पानी से भरे हुए बादल आ गये हैं, बस अब थोड़ी ही देरी है। बाहर से हट गए, इन्द्रियों के विषयों से हट गये, इन्द्रियों से हट गये, मन से हट गये, अब श्वास पर आकर रुके हैं। जहां ज्ञाता पर

जरा जोर पड़ा कि श्वास से भी हटे और तब मात्र एक अकेला वह चैतय अनुभव में आता है।

पूजा व स्तुति – साक्षी – पूजा करो औरा सुनने की चेष्टा करो, स्तुति बोलते हुए सुनने की चेष्टा करो। सुनने की चेष्टा करने पर मन का व्यापार रूकेगा। जो शक्ति मन द्वारा फालतू की बात सोचने में जाती थी, वही अब सुनने में लग जाएगी। बाहर पूजा व स्तुति चल रही है और भीतर उसका जाननापना चल रहा है, चलता जा रहा है। इन दोनों क्रियाओं के बीच में मन के कोई विचार – विकल्प नहीं रहते, अतः शान्ति का अनुभव होता है। **जानने वाले पर यदि जोर देते जाओगे तो पूजा व स्तुति का बोलना मन्द होते – होते एक समय बन्द हो जाएगा और तब मात्र एक अकेला चैतन्य तुम्हारे अनुभव में आयेगा।** वहाँ शरीर नहीं, कर्म नहीं, कोई शब्द नहीं, कोई विकल्प नहीं, राग-द्वेषादि कुछ नहीं, कोई ''मैं'' नहीं, मात्र एक अकेला 'वह' चैतन्य अपनी निराली महिमा को लिए विराज रहा है।

इस प्रकार किसी भी धार्मिक क्रिया को माध्यम बनाकर उसका साक्षी – बनते –बनते जब जीव की अनुभूति जाग्रत होती हैं, तब इसे **पता चलता है कि अरे! मैं तो यह जानने वाला था,** आज तक मैं कैसा मतवाला, गहला हो रहा था कि मैंने सबको जाना, परन्तु जो जानने वाला है उसको ही नहीं जाना, स्वयं को ही नहीं जाना था। यह तो प्रत्यक्ष हे पर मेरे न देखने के कारण ही यह आवृत्त था। **जैसे कोई स्वप्न से उठकर अपने दुःख को खो बैठता है वैसे ही जब यह जाग जाता है तो इसकी अनादिकालीन दरिद्रता समाप्त** हो जाती है।

साक्षी – भाव ही एक ऐसा उपाय है जिससे कषाय मिटती है, इन्द्रियों की आधीनता समाप्त होती है, जो अपना है वह रह जाता है, और जो अपना नहीं है वह जाने लगता हैं उस अनुभव से जो आनंद

प्राप्त होता है वह कहने की वस्तु नहीं, वह तो गूंगे का गुड़ है। गूंगे को गुड़ का स्वाद तो प्रत्यक्ष ही आया है पर जिसे जिह्वा से नहीं बता सकता। ऐसा **अनुभव इस क्षेत्र में, इस काल में, बालक, जवान, वृद्ध, स्त्री व पुरुष – सभी को घर में रहते हुए भी, हो सकता है। और तो और, पशु के भी हो सकता है, और इस अनुभव के बाद वह पशु भी ज्ञानी कहलाने लगता है, मोक्षमार्गी हो जाता है।**

''अनुभव'' के लिए पुरुषार्थ व धैर्य की अत्यधिक आवश्यकता है। यदि यह धैर्यपूर्वक प्रयत्न करता ही जाए तो अनुभूति को होना ही पड़ेगा। क्योंकि वह स्वाधीन चीज है। बाकी सारी वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए तो कर्म का सहभाव अपेक्षित है परन्तु इसमें अभाव चाहिए। **जीव का पुरुषार्थ तो ज्ञाता पर जोर देना मात्र है,** जाननेपन में अपना सर्वस्व स्थापित करना मात्र है, अनुभूति हुई कि नहीं, इस पर दृष्टि नहीं रहनी चाहिए।

यह मन बहुत चालाक है, ज्ञातापने से डिगाने के लिए यह विकल्प उठाता है कि तुम्हें तो स्वानुभूति जगानी थी, देखो तो सही हुई कि नहीं? क्यों नहीं हो पा रही? क्या कारण हैं? यह मन प्रलोभन देने में भी बहुत पक्का है। तुम इसकी सुनना मत, इसकी सुनने बैठे तो विकल्पों में ही ठहर जाओगे और अनुभूति की तो बात ही दूर, ज्ञातापने से भी वंचित रह जाओगे। **तुम तो जानने वाले पर ही जोर देने के पुरुषार्थ में संलग्न रहना, एक दिन स्वानुभव तो स्वयमेव ही, अनायास ही, हो जाएगा। तुमने कभी सोचा भी न होगा, कल्पना भी न की होगी कि ऐसा भी कभी हो सकता है।**

शरीर पुद्‌गल है आत्मा चैतन्य है ज्ञानरूप है। दोनो अनादि काल से मिले हुए हैं। आत्मा ही दोनों की सत्ता अलग-अलग होते हुए, दोनों का अस्तित्व अलग-अलग होते हुए एकरूप अपने रूप अनुभव कर रहा है। जब दोनों की

एक रूप अनुभूति कर सकता है तब अपनी चैतन्य सत्ता की, अपने अस्तित्व की अपने रूप अनुभूति क्यों नहीं कर सकता? जबकि अनुभव करने वाला वहीं है। अतः जब यह ज्ञान होता है कि मैं चैतन्य हूँ यह संयोगी द्रव्य पुद्गल हैं इसका अस्तित्व भिन्न है मेरा अस्तित्व उससे भिन्न है तब यह जिस तरह दोनों की एक सत्ता का अनुभव करता है वैसे ही अपनी पुद्गल से भिन्न सत्ता की अनुभूति कर सकता है। अपनी सत्ता में पर का प्रवेश नहीं, गुणों से अभेद, प्रदेशों से अखण्ड अपनी अनुभूति करना सहज हैं। ऐसा श्रद्धान करना जरूरी है और ऐसी अनुभूति आज भी गृहस्थ कर सकता है। यही आत्मानुभव है जो मोक्ष का द्वार है।

स्वानुभव :

मिली हुई चीजों में अपना अस्तित्व अपने में ही अनुभव करना स्वानुभव अथवा निजसत्तावलोकन है। आत्मानुभव करने वाला साधक सर्वप्रथम तो आत्मा का द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों दृष्टियों से जैसा स्वरूप है वैसा आगम के माध्यम से निर्णय करे। फिर ज्ञानस्वभाव रूप उस आत्मा का अनुभव करने के लिए पर संयोगों को अपने ज्ञान में बाद देवे और उन भावों को उन-उन (पर-संयोगो) के ही खाते में डाले। **द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म को बाद देने के पश्चात जो शेष बचा केवल चित्त–चमत्कार मात्र अपना स्वरूप, उसका विचार करे।** वहां अनेक प्रकार से निज स्वरूप में, निज चैतन्य सत्ता में अहम्बुद्धि धारे कि मैं शुद्ध हूँ, चिदानंद हूँ ज्ञानस्वरूप हूँ, इत्यादि।

ऐसा विचार होने पर अपने आप आनन्द - तरंग उठे, रोमांच हो आवे - पर अभी तक भी विचार वा विकल्प ही है। निज अनंतगुणों को आत्मद्रव्य में अभेद करें, और पंचेन्द्रियों तथा मन के द्वारा जो ज्ञानोपयोग बाहरी पदार्थो में जा रहा था, उसे उस अभेद - अखण्ड ज्ञानपिण्ड - सत्तात्मक आत्मद्रव्य के

सम्मुख करें श्रुतज्ञान को भी नयपक्षों के अवलम्बन से हटा कर उसी अपनी सत्ता के सम्मुख करे। तब अपने मति – श्रुतज्ञान की पर्याय में अन्य ज्ञेय नहीं होकर अपना निजात्म स्वभाव ही ज्ञेयपने को प्राप्त हुआ विज्ञानघन परमात्मा अपने – रूप – अपने में प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

निचलीभूमिका में – चौथे व पाँचवें गुणस्थानों में – स्थित साधक के तो स्वानुभाव में स्वभाव का स्पर्श मात्र ही हो पाता है। परन्तु, स्पर्श होते ही जो बात बनती है वह हमारी पकड़ में आती है – सब जगत मिट जाता है, शरीर भूल जाता है, मन भूल जाता है, किन्तु फिर भी चैतन्य का दीपक भीतर जलता रहता है। शरीर आपको सामने पड़ा हुआ अलग दिखाई देगा। अभ्यासी साधक के कभी – कभी ऐसा अनुभव अपने प्रयास के बिना भी घटित हो जाता है, अचानक हम शरीर से अलग हो जाते हैं, शरीर अलग दिखाई देने लगता है। न कोई विकल्प रह जाता है, न कोई चिन्ता। ऐसा लगता है कि अब यह चेतना शरीर से अलग ही रहेगी। ऐसी घटना समाप्त होने पर भी दिन भर उसका असर बना रहता है।

ऐसी विरक्ति बनती है जैसी पहले कभी नहीं हुई। फिर शरीर का जन्म इसका जन्म नहीं रहता, और न शरीर की मृत्यु इसकी मृत्यु होती हैं। मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसने मृत्यु को प्रत्यक्ष जो देख लिया है – जो मृत्यु में घटता है वह आज साक्षात् हो गया है। यह दशा ज्यादा देर नहीं रहती। यदि जल्दी जल्दी अनुभव हो तो विरक्ति बनी रहती है, परन्तु यदि बहुत दिनों तक न हो तो पुरानी याद के तुलय ही रह जाता है।

ज्ञानी की दशा

ज्ञानी को स्वभाव के आनंद का अनुभव हुआ है स्वरूप के आनंदसागर में गोते लगा कर, डुबकी मारकर, वह बारम्बार शीतलता का अनुभव करता है, और जब

उस सागर की सतह पर आकर संसार पर इसकी दृष्टि जाती है तो सारा जगत इसे सोया हुआ प्रतीत होता है, मानो यह किसी गाढ़ निद्रा में लीन हो। **बाहरी सब कुछ इसे ऐसा भासता है जैसा दिन में देखा जाने वाला स्वप्न हो।** रात को हम स्वप्न देखते है, सुबह उठ कर पाते है कि वह तो सब झूठ था। विशेषता यही है कि जिस समय वह स्वप्न देखा जा रहा था उस समय तो सत्य ही लग रहा था, पर जब नींद खुली, जागृति आई, तब समझ में आया कि वह तो स्वप्न था। स्वप्न को स्वप्न जान लिया, बस खत्म हो गई बात, इसके आगे किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार **उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की भी मोह–निद्रा जिसमें वह चिरकाल से सो रहा था, समाप्त हुई। जिस समय वह नींद में था उस समय तो संसार उसे वास्तविक ही दीख रहा था, पर जागते ही वह स्वप्नवत् भासने लगा।**

साततत्व : – अज्ञान दशा में जब यह स्वयं को कम व उसके फल–रूप, शरीर–रूप देखता था अर्थात यह जीव जब स्वयं को अजीव–रूप देखता था तो आत्मिक शक्ति के कर्म में लगने से आस्रव व बंध होता था और इस प्रकार कर्मों की ही बढवारी होती है थी। **अब इसने अपने आपको ज्ञान–रूप, आप–रूप देखना प्रारम्भ किया तो अगामी जो कर्म आते उनका तो आना रूक गया अर्थात् संवर हो गया, और पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा प्रारम्भ हो गई। अब यह उपयोग को अन्तर में जोड़कर शांत रस मे बार–बार स्थिर होता है,** परन्तु वहां, अपने स्वभाव, में अधिक देर नहीं ठहर पाता।

इसके दर्शन मोह तो चला गया, परन्तु चरित्र मोह का सद्भाव अभी है। पर के मालिकपने का, स्वामित्वपने का राग तो इसके नही रहा, परन्तु असमर्थता का राग अभी बाकी है अतः वह राग इसे भीतर से बाहर खींच लाता है। यहां पुराने संचित कर्मो का उदय भी आता है जोकि

अनंतानंत जन्मों के इकट्ठे किये हुए। पर अब यह उसको जानने वाला रहता है, कर्म के फल-रूप नही होता। अब कर्म में इसका अपनापना, कर्त्तापना, अहंपना नही रहा। इसका अहंपना तो अपने में, चैतन्य में, ज्ञाता-द्रष्टामे आ गया है। अब इसे भीतर का स्वाद आ गया है, वास्तविक मोक्षमार्ग का ज्ञान हो गया है। रागवश बाहर आता है, फिर अपनेको सावधान करके भीतर जाने की कोशिश करता है, फिर बाहर आ जाता है, फिर भीतर जाने का पुरूषार्थ करता है। ऐसा करते-करते ही इसका भीतर रहने का समय कमशः बढने लगता है और बाहर जाना, पर में उपयोग का जाना, घटने लगता है।

इस प्रकार एक दिन वह स्वरूप में पूर्णतया स्थित हो जाता है। जैसे, किसी बच्चे को मुंह में उंगली लेने का आदत पड गई बार-बार समझाये जाने पर भी उसकी समझ मे ही नही बैठता था कि यह आदत गंदी है, और जब तक स्वयं उसकी समझ मे न बैठे कि मुझे इसे छोडना चाहिये तब तक तो उसके छूटने का प्रश्न ही नही उठता। एक दिन बार-बार सुनते-सुनते उसकी समझ मे आया कि यह आदत बुरी है। अब वह इस विषय मे सावधानी बरतता है कि मुंह मे उंगली न जाये, पर जैसे ही जरा असआवधानी होती है कि वह फिर आदतवश अन्दर पहुंच जाती है; फिर सावधान होकर उसे बाहर निकालता है, और तत्सम्बन्धी सावधानी बढाने का निरन्तर पुरूषार्थ करता है। ऐसा करते-करते एक रोज वह पाता है कि अब पूरी जागृति हो गई है, अब उंगली मुंह में बिल्कुल नही जाती, अब आदत पुरी तरह छूट गई है।

इसी प्रकार ज्ञानी के भी स्वरूप मे रमणता बढाते -बढाते कषाय घटते लगती है ओर पूर्व संचित कर्मो की निर्जरा होती चली जाती है। आत्मोन्नति के इसी क्रम को आगम में चौदह गुणस्थानों के माध्यम से समझाया गया है।

चौदह गुणस्थान :- जब यह जीव-स्व-पर का भेद विज्ञान करता है, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से भिन्न अपने आपको ज्ञाता-द्रष्टा चैतन्यरूप अनुभव करता है, तब पहले गुणस्थान से इसके चौथा गुणस्थान होता है। वहां अन्तरंग में अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व का अभाव होता हैं, तथा वहिरंग में अन्याय-अभक्ष्य-अनाचार रूप प्रवृति का अभाव होता है। सच्चे, वीतरागी, देव-शास्त्र-गुरू ही पूजनीय हैं, अन्य नहीं, ऐसी श्रद्धा होती है।

इस भूमिका में आत्मानुभव कम-से-कम छह महीने मे एक बार अवश्य होता है, अन्यथा चौथा गुणस्थान नही रहता। यहां साधक जब आत्मानुभव को जल्दी प्राप्त करने का पुरूषार्थ करता है अप्रत्याख्यानावरण कषाय इसके मन्द होने लगती है। जब यह कम-से-कम पन्द्रह दिन मे एक बार आत्मानुभव होने की योग्यता बना लेता है, तब अन्तरंग में तो अप्रत्याख्यानावरण का अभाव होता है, और बहिरंग में अणुव्रतादिक बारह व्रतों का धारण तथा ग्यारह प्रतिमाओं के अनुरूप आचरण क्रम से शुरू होता है। यहां तक गृहस्थ अवस्था है-पांचवा गुणस्थान है।

यहां पर साधक अभ्यास के द्वारा आत्मानुभव का समय बढाता है और अन्तराल कम करता जाता है। फलस्वरूप, प्रत्याख्यानवरण कषाय मंद पड़ने लगती है। और अभ्यास करते-करते जब इसके अन्तर्मुहूर्त में एक बार आत्मानुभव होने की योग्यता बनती है, तब अन्तरंग में तो प्रत्याख्यानवरण का अभाव होता है, और बहिरंग मे अट्ठाईस मूलगुणों का पालन तथा नग्न-दिगम्बर मुनि अवस्था के अनुरूप आचरण होने लगता है। यहां साधक जब आत्मानुभव से हटता है तो मूलगुणो के पालनरूप प्रवृति में अथवा स्वाध्याय, चिन्तवन आदि मे लगता है। यहां यह समझना जरूरी है कि यदि इस साधक को अन्तर्मुहूर्त के भीतर आत्मानुभव

नही होता है, तो वह छठे गुणस्थान से पांचवे में आ जाता है।

यद्यपि बाह्य आचरण अभी भी मुनि अवस्था का ही है। प्रत्याख्यानवरण कषाय का फिर से उदय हो जाता है। यदि फिर पन्द्रह दिन तक भी आत्मानुभव न हों, तो वह चौथे गुणस्थान में आ जाता है और छह महीने तक भी आत्मानुभव न हो, तो पहले गुणस्थान मे ही पुहंच जाता है। तीसरा और दूसरा गुणस्थान जीव के चौथे से पहले की ओर गिरते समय होते है। पुनः यदि अपने आपको ठीक कर लेता है तो फिर से ऊपर चढने की सम्भावना बनती है।

छठे गुणस्थान में जब आत्मानुभव होता है तो सातवां गुणस्थान हो जाता है। यदि उस आत्मानुभव से नीचे न गिर कर यह साधक ध्यान की लीनता को बढाता है, तो सातवें से आठवां-नवां-दसवां, ये गुणस्थान होते है। वहां अन्तरंग में संज्वलन कषाय तीव्र से मंद, मंदतर, मंदतम होती चली जाती है। और ध्यान अवस्था चलती रहती है, जिसे शुक्लध्यान कहा गया है। आठवें, नवें तथा दसवें गुणस्थानो में ध्यानस्थ अवस्था रहते हुए उसमे गहराई उत्तरोत्तर बढती जाती है। सातवें में डुबकी लगता था और फिर बाहर आ जाता था। आठवें मे भीतर डूबता जाता है परन्तु अभी सतह पर बुलबुले उठ रहे है। और अधिक गहराई मे जाता है, तो बुलबुले उठने भी बंद हो जाते है।

आत्मध्यान की गहनता के फलस्वरूप सूक्ष्मलोभ का भी अभाव होकर कषाय रहित बारहवां गुणस्थान होता है। इसके पश्चात शुक्लध्यान के दूसरे पाये के द्वारा आत्मा के ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य अनन्तता को, पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाते है- तेरहवां गुणस्थान हो जाता है। यहां पर शरीर का और **शरीर-सम्बन्धी कर्म-प्रकृतियों का सम्बंध अभी शेष है। यहां बिना किसी प्रयत्न या इच्छा के, मेघ की गर्जना के समान सहज-स्वभाविक रूप से, वाणी खिरती है, जिससे प्राणीमात्र को आत्मकल्याण का, अनन्त दुःख से छूटने का और परमात्मा बनन का**

मार्ग मिलता है। पुनः शुक्लध्यान का पाया बदलता है-तीसरे पाये से योग-निरोध करते हुए चौदहवें गुणस्थान मे प्रवेश करते है, और फिर चौथे शुक्लध्यान द्वारा शरीर से भी रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मा हो जाते है।

गुणस्थानों की इस परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अध्यात्म, करणानुयोग और चरणानुयोग-इन तीनो का कार्य साथ-साथ चलता है। चेतना मे लगना, कषाय का घटना, और आचरण का परिवर्तित होना-ये तीनो एक साथ होते है।

ज्ञातापने की सहज क्रिया : ज्ञानी बार-बार अनुभूति करने का नही वरन् ज्ञाता-रूप रहने का ही पुरूषार्थ करता है उसे मैं ज्ञाता हूं, मैं ज्ञाता हूं ऐसा विकल्प नही करना पडता। दीपक जल रहा है, वह यह विकल्प नही करता कि मै प्रकाश कर रहा हूं, मैने इतने पदार्थो को प्रकाशित किया, अभी चक्रवर्ती निकला था, उसे भी मैने प्रकाशित किया था, इत्यादि। उसका तो अस्तित्व ही यह व्यक्त कर रहा है कि वह मात्र प्रकाश रूप है।

इसी प्रकार ज्ञानी को भी ज्ञातापने की स्वाभाविक स्थिति बनती है, वह सबको जानता है। वह बार-बार ज्ञातापने से हटता है, मन से जुड जाता है,

विचार चालू हो जाता है परन्तु फिर स्वयं को टोकता है, सावधान हो जाता है और श्वास के साक्षी रहने का, शरीर की सारी क्रियाओं का चलते-फिरते, उठते-बैठते साक्षी रहने का ही प्रयास करता है। साक्षीभूत रहते-रहते अनुभूति तो कभी स्वयं ही हो जाती है। अनुभूति व ज्ञातापने में अन्तर यही है कि अनुभूति मे तो मात्र एक अकेला चैतन्य ही रह जाता है, मन, श्वास, शारीरिक क्रिया आदि किसी पर भी दृष्टि नहीं रहती। परन्तु ज्ञातापने में भीतर

मे जानने वाला और बाहर से श्वास और अन्य कोई शारीरिक क्रिया या बोलने की क्रिया-ऐसे दो रहते है, मन नहीं रहता। **जहां ज्ञातापना होगा वहां मन तो रह ही नही सकता, क्योकि शक्ति तो वही है। यदि वह मन मे लग जाएगी तो ज्ञाता में कहां से लगेगी,** शरीर की कोई क्रिया या श्वास की क्रिया जाननपने के साथ भी बनी रह सकती है क्योकि इन क्रियाओ में चेतना की बहुत थोड़ी सी शक्ति लगती है परन्तु मन के विकल्पों में तो अत्याधिक शक्ति खर्च होती है।

ज्ञानी ज्ञान का कर्ता: ज्ञानी के भी ज्ञानधारा व कर्मधारा दोनो चल रही है पर वह ज्ञानधारा का ही मालिक है। कर्मधारा का कार्य हो रहा है, पर ज्ञानी उसका जानने वाला ही है, कर्ता नही है, कर्मधारा मे उसके अहंपना नही है। जैसे हम दूसरे आदमी को देखते-जानते है, उसके क्रोधादिक को भी देखते है और शरीर की अवस्था को भी देखते है, परन्तु उस-रूप नही होते वैसे ही यह दूर खडा होकर कर्मधारा को देखता है, पर उसे अपने रूप अनुभव नही करता। अत: अब ज्ञान अपना ही कर्त्ता-भोक्ता है कर्म के कार्य का कर्त्ता-भोक्ता नही। सोने मे यदि चांदी मिली हो तो भी वह शुद्ध स्वर्ण की दृष्टि से तो खोट ही कहलायेगी, उस खोट को ऐसा नही कहेंगे कि यह चांदी का है, तो कुछ अच्छा है।

मोक्षमार्ग मे भी शुद्ध स्वर्ण की भाँति मात्र शुद्ध आत्मा को ग्रहण करने की दृष्टि है। अतः यही निश्चित हुआ कि कर्म ही संसार है, चाहे वह कितनी ही ऊँची से ऊँची जाति का हो, चाहे तीर्थंकर प्रकृति ही क्यों न हो, " जितना ज्ञान रूप रहना उतना मोक्षामार्ग, जितना कर्म उतना संसार" यह वस्तु-तत्त्व ज्ञानी के अच्छी तरह समझ में आ गया है, अत: अभी तक तो शक्ति कर्म के कर्तृत्व में लगती थी, वही अब ज्ञान में कर्म के कार्य को जानने मे, लगने लगी है। **अतः**

ज्ञानी मात्र ज्ञान का कर्ता हुआ और उसी का भोक्ता कहलाया, कर्म व उसके फल का कर्ता व भोक्ता न रहा।

द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टिः– जब तक यह अज्ञानी था तब तक अपने आपको मात्र पर्याय–रूप ही देखता–जानता था, पर्याय दृष्टि का ही इसे एकान्त पक्ष था, द्रव्य स्वभाव का इसे ज्ञान ही न था जबकि आत्मा है द्रव्य पर्याय रूप। अतः वस्तु का सम्यक् परिज्ञान न होने के कारण यह मिथ्यादृष्टि कहलाता था।

चेतन, द्रव्य–दृष्टि से त्रिकाल–शुद्ध और एक अकेला है परन्तु पर्यायदष्टि से देखे तो अशुद्ध हो रहा है, शरीर, कर्म आदि अनेक संयोगो को प्राप्त हो रहा है। अतः जीव को दोनो दृष्टियों का ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तु का पर्याय–रूप अनुभव तो यह अनादिकाल से कर ही रहा है, वस्तु का द्रव्य–रूप अनुभव इसे होना चाहिए। अब आचार्यो के सम्यक उपदेश से जब द्रव्य–स्वभाव का ज्ञान करके इसने वस्तु का द्रव्य–रूप अनुभव किया तो इसका ज्ञान यथार्थ हुआ और यह ज्ञानी कहलाया। इसकी पर्याय मे एकत्व बुद्धि छूट गई।

द्रव्यदृष्टि के बल से भय, इच्छा व कषाय के प्रयोजन का अभावः अज्ञान–दशा में वस्तु को मात्र पर्याय–रूप ही देखने से आकुलता के सिवाय और कुछ इसके हाथ न लगता था। सात भयों से भी यह निरन्तर घिरा रहता था–मरण का डर, पुण्य के उदय मे पाप का उदय आने का डर, सुख मे दुखी हो जाने का डर, सम्मानित है तो अपमान का डर, इत्यादि। इच्छा व कषाय करने का प्रयोजन भी इसके बना हुआ था, सारी स्थिति सब तरह से अनुकूल बनी रहे, इस बात की इच्छा रहती थी और इच्छा की पूर्ति न होने पर क्रोधादि कषाय–रूप परिणमित हो जाता था।

अब ज्ञानी होने पर जब इसकी द्रव्यष्टि जाग्रत हुई, इसने अपने आपको ज्ञान रूप जाना, निजभाव-रूपदेखा तो पाया कि मै तो अकेला चैतन्य हूँ, बस, इतना ही हूँ ऐसा ही अनादिकाल से हूँ और ऐसा ही अनन्त काल तक रहूँगा। जब स्वयं को ऐसा अनुभव किया तो भयादिक कुछ भी होने का सवाल ही नही रहा, इच्छा व कषाय करने का प्रयोजन भी चला गया। जब शरीर मेरा है नही और मेरा मरण है नही, तो मरण का भय कैसा? अपना वैभव, निजात्मा के अनंत गुण अपने पास है, इसके अतिरिक्त अन्य सांसारिक वैभव अपना हो ही नही सकता, तो वैभव की इच्छा कैसे हो?

अपना सब अपने में है, चेतन के अनन्त गुण ही मात्र मेरे हैं; वे कही बाहर जा नहीं सकते, और बाहर से उनमे कुछ भी मिलने वाला भी नही, तो फिर धन, परिवार आदि की चाह कैसे हो? इसी प्रकार मेरा अनिष्ट सम्भव नही, तब क्रोध किस पर करूं? कोई मुझसे बडा छोटा नही तो अपमान सम्मान कैसा? कोई इष्ट नही, तो राग किससे? कोई अनिष्ट नही तो द्वेष किससे? इस प्रकार निज का आश्रय लेने वाले के कषाय करने का भी अभिप्राय नहीं रहा।

जैसे एक दीपक किसी झोपडे में जल रहा है। वह यदि स्वयं को दीपक-रूप न देखकर झोपड़े-रूप माने तो उसे झोपड़े के चले जाने का निरन्तर भय बना, रहेगा, झोपडे सम्बन्धी हजारो चिन्ताएं व इच्छाएं उसमे जन्मेंगी। महल, प्रासाद आदि मे जल रहे अन्य दीपक से द्वेष होगा, एवं स्वयं के भीतर भी महल में जाने का राग उपजेगा। परन्तु यदि वह स्वयं को झोपड़े रूप मे न देखकर अपने-रूप, ही देखे तो न तो झोपड़े सम्बन्धी कोई भय या चिन्ता रहेगी, न महल मे जाने की इच्छा होगी, और न ही महल वाले दीपकों से द्वेष होगा, वह तो स्वयं को मात्र झोपडे को प्रकाशित करने वाला, जानने वाला ही देखगा

परन्तु उस रूप, झोपडे-रूप, नही।

पर्याय की सारी कमी अपनी,
और ज्ञाता रूप रहने से उसका अभाव

ज्ञानी की द्रव्यदृष्टि जाग्रत हुई और वह स्वयं को ज्ञान-रूप ही देख-जान रहा है। द्रव्यदृष्टि से तो वह ज्ञाता ही है और जब तक साधक-रूप अवस्था है तब ज्ञान-रूप रहने को ही अपना कार्य समझता है। **परन्तु द्रव्य का भी एकान्त पक्ष नही ग्रहण करता-पर्याय को भी जानता है, जितनी पर्याय मे कमी है उसे अपनी कमजोरी व गलती मानता है।** पर्याय दृष्टि मे विकार से हटना भी चाहता है तथा बार-बार द्रव्य-स्वभाव का अवलम्बन लेकर अपनी उस कमजोरी को दूर करने का पुरूषार्थ करता है। ज्ञाता बनते ही विकार दूर होने लगता है, क्रोध का ज्ञाता होते ही क्रोध का अभाव होने लगता है, वह अदृश्य हो जाता है। काम-वासना का ज्ञाता होते ही उसका अभाव होने लगता है, वह बर्फ की भांति पिघलने लगती है। विकार व वासना तो चेतना के सहयोग के कारण ही फलते फूलते है और जब चेतना का सहयोग नहीं रहता, तो वे नष्टप्राय: हो जाते हैं। **द्रव्य दृष्टि से तो आत्मा त्रिकाल-शुद्ध है ही, पर्याय में अशुद्ध था और वह पर्याय की अशुद्धता उस शुद्ध द्रव्य के निरन्तर अनुभव से कम होती हुई एक दिन समाप्त हो जाती है, और तब, पर्याय के भी शुद्ध हो जाने पर, द्रव्य पूर्णत: शुद्ध हो जाता है।**

दोनो दृष्टियो का ज्ञान- **"जीव शुद्धता के लिये पुरूषार्थ करता है" यह बात भी पर्यायदृष्टि से कही जाती है, द्रव्यदृष्टि से तो वह उस पुरूषार्थ का भी ज्ञाता ही है, उस परिणति का भी कर्ता नही। द्रव्यदृष्टि से न उसे इच्छाओ का कर्ता कहते है, न कषाय का,**

परन्तु पर्याय मे अभी भारी कमजोरी है, बहुत पराधीनता है, अत: इच्छाओं और कषायो का सद्भाव पाया जाता है। द्रव्यदृष्टि के विषय को पर्याय मे और पर्यायदृष्टि के विषय को द्रव्य-स्वभाव मे नही मिलना चाहिये। द्रव्यदृष्टिा से जीव मात्र ज्ञाता है और पर्याय दृष्टि से सारी जिम्मेवारी उसकी अपनी है। पर्याय मे पश्चाताप भी होता है कि मेरी ऐसी परिणति क्यो हुई? **कर्म का नाश तो द्रव्यदृष्टि के बल पर ही होगा** परन्तु पर्यायदृष्टि के ज्ञान के बल से स्वच्छंदता नही आएगी।

ज्ञानी का पर्याय मे विवेक : **ज्ञानी ज्ञान का ही मालिक है, उसके सिवाय और कुछ भी नही कर सकता।** पर अभी अधूरी अवस्था है, इसलिए पर्याय मे इतना विवेक उसे है, कि तीव्र कषाय से हटकर मंद कषाय-रूप रहने की चेष्टा करता है परन्तु उस **मंदकषाय** रूप परिणति **को माक्षमार्ग नहीं मानता, राग का ही कार्य जानता है।** आत्माबल की कमी के कारण यदि निर्विकल्पता नही बन पाती, और विकल्पों मे जाता भी है तो अन्य लौकिक बातों से बचकर देव, शास्त्र, गुरू मे ही लगने की चेष्टा करता है, और लौकिक कार्यो मे भी तीव्र कषाय युक्त विकल्प न उठाकर मंद कषाय वाले विकल्प ही उठाता है।

जैसे, कोई व्यक्ति जा रहा है, उसको देखकर हम यह विकल्प भी उठा सकते है कि 'बड़ा आदमी हो गया, अब क्यो हमारी तरफ देखेगा' और यह भी सोच सकते है कि "जल्दी मे होगा, इसलिये नही देखा"। प्रत्यक्षत: पहला विकल्प दूसरे की अपेक्षा अधिक कषाय को लिये हुए है अत: ज्ञानी दुसरो प्रकार के विकल्प मे ही जाएगा। उसका सोचने का ढंग ही अज्ञानियो से निराला हो जाता है, क्योकि उसे वस्तुतत्व समझ मे आ गया है कि

परिस्थिति तो मुझसे कषाय कराती नही, मै स्वयं ही ज्ञाता-रूप

न रह पाने की अपनी असमर्थता के कारण परिस्थिति से जुडकर विकल्पों मे बह जाता हूँ ओर उसके फलस्वरूप स्वयं ही अपनी चेतना का घात कर बैठत्ता हूँ। अतः अपेक्षाकृत मंद कषाय वाले विकल्प ही क्यो न उठाऊँ, जिससे मेरे आत्म-स्वभाव का कम घात हो। द्रव्यदृष्टि से ज्ञानी ज्ञाता-रूप ही रहने का पुरूषार्थ करता है परन्तु पर्यायदृष्टि से अपनी कमजोरी और न बढे, इसके लिये बाहरी व्रत तप आदि क्रिया को भी अंगीकार करता है। जैसे यदि शरीर मे 101 बुखार है तो उसके लिये दो प्रयत्न किए जाते है-बुखार और आगे न बढे, इसके लिये परहेज और जितना है उतना भी खत्म करने के लिए दवाई।

उसी प्रकार ज्ञानी भी जितना विकार है उसको दूर करने कि लिये तो ज्ञाता-रूप रहता है, और वह विकार और ज्यादा न बढ जाये, इसके लिए शरीराश्रित एवं पर्याययाश्रित व्रत, तप आदि क्रिया भी करता है। परन्तु उन क्रियाओं में भी उसके ममत्व नही होता। जब शरीर में ही ममत्व नहीं रहा, तो उसके आश्रित क्रियाओं मे ममत्व कैसा? इन क्रियाओं में वह खेंचतान भी नही करता। जब देखता है कि इन्द्रिय और मन चंचल हो रहे है, तो उपवास करता है और जब उन्हे शिथिल देखता है, अपने ध्यान-अध्ययन आदि में कमी आते देखता है, तो भोजन ग्रहण करता है।

स्व परिवर्तन व आचरण स्वाभाविक-**ज्ञानी को वस्तुस्वभाव अनुभव मे आ गया है, अतः उसके जीवन मे परिवर्तन निश्चित रूप से आता है। और वह सारा परिवर्तन स्वाभाविक होता है।** हम यदि ऐसा कहे कि पर पदार्थ मेरा नही है, परन्तु अनुभव में यही आये कि है तो मेरा ही, तो फिर हमारा जीवन बदलेगा नही। और, यदि बाहर कुछ परिवर्तन दीखे भी, तो भी वह यह हुआ ही होगा, आया हुआ नही। **आया हुआ आचरण वास्तविक नही होता, उसके लिये निरन्तर चिन्ता रहती है**

जैसा कि कोई स्त्री बहुत ज्यादा श्रृंगार करके जा रही है। वह चूंकि उसकी स्वाभाविक सुन्दरता नही, अतः उसे बार बार दर्पण मे अपना मुंह निहारना पडता है कि कुछ बिगड तो नही गया, निरन्तर उसे उसकी ही चिन्ता बनी रहती है। परन्तु ज्ञानी का आचरण ऊपर से ओढा हुआ नही होता, उसे बार बार यह देखना नही पडता कि कहीं कोई गलती तो नही हो रही है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग उसे पालने पडते हों, ऐसा नहीं वे स्वतः ही पलते है। वह बाहरी पर पदार्थो में सुख-दुख नही मानता, ऐसा नही वरन् उसके पर पदार्थो में सुख-दुख का भाव पैदा ही नही होता।

बाहरी कृत्यों से ज्ञानी-अज्ञानीपने का माप नही:- जीव की बाहरी दशा व कृत्यों से उसके ज्ञानी-अज्ञानीपने का माप नही किया जा सकता। हो सकता है कि अज्ञानी के कृत्य ज्यादा शुभ दिखाई दे, और ज्ञानी के अशुभ। ज्ञानी-अज्ञानीपने का सम्बन्ध तो भीतर की जागृति अथवा मूर्च्छा से है। यदि बाहर मे ज्ञानी-अज्ञानी दोनो के कृत्य एक जैसे भी दिखाई दे रहे है तो भी भीतर मे उन दोनो के अभिप्राय में महान अन्तर है। ज्ञानी उन कृत्यों को करना नही चाहता, उसकी रूचि नही है उनमे, रूचि तो उसकी मात्र ज्ञाता रूप रहने मे ही है।

कर्म के उदय की बरजोरी से काम करना और चाह करके करना दोनो मे महान अन्तर है। किसी ने पहले भांग पी ली और अब उसका नशा चढ़ा तो झूम रहा है। परन्तु अब वह यदि यह चाहे भी कि मुझे नशा न चढे, तो यह सम्भव नही। इस ज्ञानी ने भी पहले जो मोह की भांग पी थी उसका नशा इसे अभी तक चढा हुआ है, अभी यह झूमता हुआ पाया जाता है। परन्तु भीतर मे उस नशे को यह हेय ही समझ रहा है और चाहता भी यही है कि कब यह नशा खत्म हो। एक समय ऐसा अवश्य आयेगा कि इसका नशा खत्म होगा और पुनः यह भांग नही पियेगा, तब

हमेशा के लिये **स्वस्थ हो जायेगा, 'स्व' मे स्थित हो जायेगा।** परन्तु यह नशा तो जब खत्म होगा, तब होगा, अभी तो बाहर से देखने वाले को यह झूमता हुआ ही दिखाई दे रहा है। जो बहुत बडा परिवर्तन इसमे आया है, उसे तो स्वयं ही जानता है। वह उसके भीतर की वस्तु है, अभी वह बाहर दिखाई नही देगी। बाहर तो जब व्रती या मुनि अवस्था आयेगी तभी वह प्रगट होगी।

वचन से भी ज्ञानी–अज्ञानीपने का माप नही–इसी प्रकार अज्ञानीपने का सम्बन्ध, व्यक्ति मुंह से क्या कर रहा है, इससे भी नही है। हो सकता है कि ज्ञानी मुंह से शरीर को अपना कहे, स्त्री–पुत्र आदि कहे, परन्तु ऐसा कहते हुए भी उसे वे 'पर' ही दिखाई दे रहे है और अज्ञानी मुंह से चाहे उन्हे 'पर' कहे, कि मेरे नही, परन्तु उसे वे अपने ही दिखाई देते है।

लोक मे इसके उदाहरण भी पाये जाते है। हम दूसरे के बच्चे को लेकर जा रहे है, रास्ते मे किसी ने पुछा–किसका बच्चा है? हमने कहा–'अपना ही है। उस बच्चे को अपना कह रहे है परन्तु वह अपना मात्र कहने भर को ही है, दिखाई वह दूसरे का ही दे रहा है। ऐसे ही हमारा कोई अपना बच्चा है, उससे खूब लडाई–झगडा हो गया और हमने कहा कि आज से तेरा हमारा कोई संबंध नही और वह अलग भी रहने लगा। मुंह से कुछ ही कह दे परन्तु हृदय तो निरंतर यही रहता है कि कुछ ही कह ले, है तो अपना ही। और कल को यदि किसी दुर्घटनावश वह बहुत घायल हो जाये तो खबर लेने पहुंच ही जायेगा उसके घर। या हो सकता है कि तीव्र कषायवश न भी जाये परन्तु निरन्तर वही ध्यान लगा रहेगा। जब लौकिक बातों मे यह सम्भव है, तो परमार्थ मे क्यो नही? **ज्ञानी वचन व काय से लौकिक व्यवहार चलाता है परन्तु मन उसका चेतना से ही जुडा रहता है।**

संसार नाटकवत्–**क्योकि ज्ञानी का मन निरन्तर चेतना से ही**

रहता है, अतः यह संसार उसके लिये नाटक का रंगमंच हो जाता है, और स्वयं को वह नाटक का एक पात्र मात्र देखने लगता है। नाटक मे जिस समय अभिनेता गण अभिनय कर रहे है, उसी समय वे स्वयं अपने उस अभिनय के दर्शक भी होते है। अभिनय करते हुए भी वे लगातार यह जान रहे है कि यह तो अभिनय है। वहां भी दो धाराये एक साथ चल रही है। हम कह सकते है कि वे रोते हुए भी रोते नही है और हंसते हुए भी हंसते नही है। चाहे गरीब का अभिनय कर रहे हो, करोडपति का अभिनय दर्शको को अपनी उस भूमिका के दुःख-सुख को दिखाते हुये भी, वे वास्तव मे दुखी-सुखी नही होते क्योकि अपने असली रूप का उन्हे ज्ञान है। अभिनय करते हुए भी निरन्तर अपनी असलियत उन्हे याद है। उसे वे भूले नही है, भूल सकते भी नही है और उन्हे यदि कहा जाए कि तुम जिसका अभिनय कर रहे हो, उस रूप ही अपने आपको वास्तव मे देखने लगो, तो वे यही उतर देगे कि यह तो नितान्त असम्भव है, किसी हालत मे भी यह नही हो सकता।

यही स्थिति उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की है, उसे आत्मा का अनुभव हुआ अपने असली रूप का ज्ञान हुआ, अतः बाकि सब नाटक दिखने लगा। अभी उसे अभिनय करना पड रहा है क्योकि अभी वह स्व मे ठहरने मे असमर्थ है। परन्तु इस समस्त अभिनय के बीच वह जान रहा है कि मेरा अपना कुछ भी नही है। उपयोग चाहे उसका बाहर जाए, पर भीतर श्रद्धा का बोर्ड निरंतर टंगा ही रहता है कि मै अकेला चेतन हूं। यदि उसे यह कहा जाये, कि तू इस शरीर को या कर्म को अपने रूप देख तो वह कहेगा-कैसे देखूं! जब मै उन-रूप हूँ ही नही तो उस-रूप स्वयं को देखना तो सार्वथा असम्भव ही है। मै तो अब अपने को ही अपने-रूप देख सकता हूं। "ओर,

जिस प्रकार नाटक के बाद अभिनेता अपने अभिनय के वश को उतार फैकते है, अपने असली रूप मे आ जाते है, और शीघ्र ही अपने घर जाने की

सुध हो आती है, उसी प्रकार ज्ञानी भी सारा दिन संसार का नाटक करके सामायिक के समय अपने सांसारिकवेश को उतार फैंकता है, यह शरीर-रूप जो चोला धारण किया हुआ है, उसे भी स्वयं से पृथक कर अपनी असलियत को प्राप्त करता है और फिर अपने घर जाए बिना उसे चैन नही पड़ती। अतः वह निज शुद्धात्मा मे रमण करता है, वहीं स्वतन्त्र रूप मे विहार करता है।

कल्याणकारी शास्त्रों के रचियता उन भगवान आचार्यो के अन्तरंग मे करूणा का कैसा समुद्र बहता होगा कि जिस किसी प्रकार भी यह जीव अपने अनादि मिथ्यात्व को छोडकर सम्यग्दर्शन को, उस निर्विल्पि स्वानुभव को प्राप्त कर ले। निर्विकल्प स्वानुभव चौथे गुणस्थान मे हो सकता है, क्याकि चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि का है और निर्विकल्प स्वानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन नही होता। कुछ व्यक्ति ऐसा मानते है कि चौथे गुणस्थान मे निर्विकल्प स्वानुभूति नही होती क्योकि वे कहते है कि शास्त्रों में, तो आठवें गुण स्थान से निर्विकल्प समाधि लिखी है। शास्त्रो मे ऐसा कथन आता है, यह बात सत्य है। परन्तु किस विवक्षा से ऐसा लिखा गया है यह तो हमें ही समझना होगा क्योकि

'चतुर्थ गुणस्थान में निर्विकल्पानुभूति होती हैं। यह कथन शास्त्र का ही हैं। शास्त्रों मे अलग अलग स्थलों पर भिन्न भिन्न ढंग के कथन मिलते है। उसमे आचार्यो की अपेक्षाएं लगाकर हमे बुद्धि मे उनका तालमेल बैठाना होगा, जिससे कि कोई विरोध न रहे। चतुर्थ गुणस्थान मे निर्विकल्पानुभूति उन्होने कैसे कही, इसका खुलासा यही है कि विकल्प दो प्रकार के होते है-एक तो बुद्धिपूर्वक और दूसरे अबुद्धिपूर्वक। जो जीव की पकड़ मे आए उसे बुद्धिपूर्वक और जो उसकी पकड़ से बाहर हो, उसे अबुद्धिपूर्वक कहते है। चौथे

गुणस्थान मे स्वानुभव के समय जीव के बुद्धिपूर्वक कोई विकल्प नही रहते, अतः उसकी स्वानुभूति को निर्विकल्प अनुभूति कहा। और, आप यदि उस आनन्दास्वादी से पूछे तो वह भी यही कहेगा कि 'सच मे ही मेरी उस समय निर्विकल्प अवस्था थी। कोई भी विकल्प मुझमे नहीं था। अब वह तो आत्मज्ञानी है, छदमस्थ है, और उसकी पकड में आने योग्य जो सारे बुद्धिपूर्वक विकल्प है, उसका उस समय अभाव हुआ ही है, अतः उसकी अपेक्षा यह कथन सत्य है। परन्तु किसी महान ज्ञानी से, केवलज्ञानी से उसी समय यदि आप पूछे तो वे कहेगे-अभी निर्विकल्पता कहां? अभी तो अनंतो अबुद्धिपूर्वक विकल्प इसके पडे है। कषाय की तीन चौकडियाँ शेष है, केवल अनन्तानुबंधी ही तो गई है हम तो आठवे गुणस्थान मे जब यह जीव श्रेणी मांडकर शुक्ल ध्यान प्रारम्भ करेगा और भीतर मे इसकी लीनता बढेगी तब इसे निर्विकल्प समाधि-स्थित कहेगें। इस प्रकार से इन कथनों को यदि हम समझो तो बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है।

उदाहरण के रूप मे, मान लीजिए कि हम एक निश्चित स्थान पर खड़े हुए दूर क्षितिज की और जाते हुए एक व्यक्ति को देख रहे है। एक समय आयेगा कि वह धुंधला होते हमे दिखाई देना बन्द हो जाएगा। तब हम यही तो कहेंगे कि वह व्यक्ति अब नही रहा। परन्तु यह कथन हमारे ज्ञान की अपेक्षा ही सत्य है। वास्तव मे यदि दूर क्षितिज पर उस व्यक्ति का सद्भाव-कहीं अवश्य है। और, कोई अन्य व्यक्ति जिसकी दृष्टि हमसे ज्यादा तीक्ष्ण है, उसे उस समय भी देखकर यही कहेगा कि चला तो जा रहा है वह, निषेध कैसे कर रहे हो तुम उसका? इस प्रकार विभिन्न कथन विभिन्न व्यक्तियो की अपेक्षा सत्य हो सकते है। अतः **चतुर्थ गुणस्थान मे निर्विकल्प स्वानुभव का सर्वथा निषेध करना मोक्षमार्ग का ही निषेध करना है। चौथे गुणस्थान मे स्वानुभूति होती है और अतीन्द्रिय आनंद का प्रत्यक्ष वेदन होता है। वह आनन्द "मै शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरंजन**

हूँ, निर्विकार हूँ" इस प्रकार के विकल्पों से उत्पन्न नहीं होता वरन् आत्मा-वस्तु के प्रत्यक्ष स्वाद से उत्पन्न होता है। उसकी महिमा ही कुछ और है। कल्पना करके भी अगर देखा जाए कि किसी समय यदि हम ऐसे ही शून्य से बैठ जाये, और कोई भी विकल्प न करें, तो भी कितनी शान्ति मिलती है, जबकि उस समय अबुद्धि व बुद्धिपूर्वक लाखों विकल्प खड़े रहते है तब जिस समय कोई बुद्धिपूर्वक विकल्प न रहें उस समय कितनी शान्ति मिलती होगी, वह वर्णनातीत है।

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख उपजै, अनुभौ याकौ नाम।।
अनुभौ चिन्तामणि रतन, अनुभौ है रस कूप।
अनुभौ मारग मोख को, अनुभौ मोख स्वरूप।।

अतः सार यही है कि एक ही बीमारी है-रागद्वेष और एक ही इलाज है-स्वानुभव अथवा यह कहना चाहिए :-

संसारी जीवात्मा-कषाय = परमात्मा। कषाय जितनी उतना परमात्मा से दूर और जितनी कषाय का अभाव उतना परमात्मा के नजदीक। कषाय का सर्वथा अभाव सो परमात्मापना।

अपने में देखों और जानों, हम कहां खड़े हैं।

स्वानुभव-कृति का अवतरण लेखक श्री बाबू लाल जैन कलकत्ता वालों की लेखनी से पाण्डे राजमल जी कृत समयसार कलश की टीका ढूंढारी भाषा से हिन्दी अनुवाद हुआ जिसकी प्रस्तावना के रूप में प्रकाशन सन् 1981 में वीर सेवा मन्दिर-दिल्ली ने किया।

भगवान महावीर की स्वतंत्रता की घोषणा

★ हरेक जीवात्मा शक्ति रूप परमात्मा है। वह अपनी शक्ति को क्रम से व्यक्त करता हुआ परमात्मा बन सकता है। यह महान स्वतंत्रता की घोषणा भगवान महावीर ने की है।

★ चारों गतियों के जीव जो मन सहित हैं, चाहे वह चण्डाल भी क्यों न हो, पशु-पक्षी भी क्यों न हो, सम्यक्‌दर्शन प्राप्त कर सकता है। सम्यक्-दर्शन प्राप्त करने का अर्थ मोक्षमार्गी हो सकता है।

★ धर्म की परिभाषा जो भगवान महावीर ने की है वह आज तक किसी ने नहीं की। उन्होनें यह नहीं कहा कि मुझे पूजना धर्म है अथवा यह क्रिया करना धर्म है, परन्तु उन्होंने कहा कि "वस्तु स्वभावो धम्मो" जो चैतन्य वस्तु का स्वभाव है, वही उसका धर्म है। अग्नि का स्वभाव उष्णता है, चीनी का मिठ्ठापना, इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव है वीतरागता, वही जीव का धर्म है।

★ उन्होंने हमें णमोकार मंत्र दिया, जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के नाम का स्मरण करने को नहीं कहा परन्तु यह कहा कि "जिसने विकारों का (राग-द्वेष) का नाश किया उसको नमस्कार है, जिसने स्वभाव को प्राप्त किया उसको नमस्कार है, जो विकारों के नाश करने में और स्वभाव (वीतरागता) को प्राप्त करने में लगे हैं, उन साधुओं को नमस्कार है। यह अद्‌भुत मंत्र है।

★ उन्होंने अहिंसा की परिभाषा बताई, जो सार्वभौम है, अर्थात् अप्रादुर्भाव-खुल रागादिनां भवत्यहिंसेति "अर्थात् अपने अन्दर रागादि भावों का न होना ही अहिंसा है, अर्थात् रागादि भावों का होना ही हिंसा है चाहे बाहर में जीव मरे या न मरे, ऐसी परिभाषा आज तक किसी ने नहीं बताई।

भगवान महावीर की स्वतंत्रता की घोषणा

★ हरेक जीवात्मा शक्ति रूप परमात्मा है। वह अपनी शक्ति को क्रम से व्यक्त करता हुआ परमात्मा बन सकता है। यह महान स्वतंत्रता की घोषणा भगवान महावीर ने की है।

★ चारों गतियों के जीव जो मन सहित हैं, चाहे वह चण्डाल भी क्यों न हो, पशु–पक्षी भी क्यों न हो, सम्यक्‌दर्शन प्राप्त कर सकता है। सम्यक्–दर्शन प्राप्त करने का अर्थ मोक्षमार्गी हो सकता है।

★ धर्म की परिभाषा जो भगवान महावीर ने की है वह आज तक किसी ने नहीं की। उन्होनें यह नहीं कहा कि मुझे पूजना धर्म है अथवा यह क्रिया करना धर्म है, परन्तु उन्होंने कहा कि "वस्तु स्वभावो धम्मो" जो चैतन्य वस्तु का स्वभाव है, वही उसका धर्म है। अग्नि का स्वभाव उष्णता है, चीनी का मिट्ठापना, इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव है वीतरागता, वही जीव का धर्म है।

★ उन्होंने हमें णमोकार मंत्र दिया, जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के नाम का स्मरण करने को नहीं कहा परन्तु यह कहा कि "जिसने विकारों का (राग–द्वेष) का नाश किया उसको नमस्कार है, जिसने स्वभाव को प्राप्त किया उसको नमस्कार है, जो विकारों के नाश करने में और स्वभाव (वीतरागता) को प्राप्त करने में लगे हैं, उन साधुओं को नमस्कार है। यह अद्‌भुत मंत्र है।

★ उन्होंने अहिंसा की परिभाषा बताई, जो सार्वभौम है, अर्थात् अप्रादुर्भाव–खुल रागादिनां भवत्यहिंसेति "अर्थात् अपने अन्दर रागादि भावों का न होना ही अहिंसा है, अर्थात् रागादि भावों का होना ही हिंसा है चाहे बाहर में जीव मरे या न मरे, ऐसी परिभाषा आज तक किसी ने नहीं बताई।